वक्त की पुकार

शिवदास घोष

वक्त की पुकार

फरवरी 1962 के लोकसभा और विभिन्न राज्यों में विधानसभा चुनावों के बाद की राष्ट्रीय परिस्थिति तथा तत्कालीन अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति की प्रमुख विशेषताएं इस लेख की विषय-वस्तु हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद एक तरफ फासीवाद किस तरह उत्तरोत्तर सभी पूंजीवादी देशों की सामान्य विशेषता बनता जा रहा था और दूसरी तरफ, सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी (सीपीएसयू) में ख्रुश्चेवपंथी नेतृत्व का संशोधनवादी चरित्र किस तरह उभरकर आ रहा था–इन सब बातों को इस लेख में उजागर किया गया है। यह कहने की कोई खास जरूरत नहीं है कि ये विशेषताएं वर्तमान परिदृश्य में स्वत: सिद्ध सच्चाई के तौर पर साफ झलक रही हैं।

भारत में तीसरा आम चुनाव समाप्त हो गया है। आर्थिक शोषण, राजनैतिक उत्पीड़न और सांस्कृतिक दमन के बोझ तले पिस रहे हमारे देश के करोड़ों मेहनतकश लोग स्वाभाविक है कि कांग्रेस शासन का अंत देखना चाहते थे। इसमें कोई संदेह नहीं कि पिछले आम चुनावों के परिणाम ने जनता की उम्मीदों पर पानी फेरते हुए उसे बुरी तरह निराश किया है। नतीजे चाहे कितने भी दुखदायी क्यों न हों, लेकिन जो हो गया सो हो गया, अब इस पर हाय-तौबा करना बेकार है। पराजय का मतलब सब कुछ समाप्त हो जाना नहीं होता। चुनावी हार-जीत की फिजूल की बातों से कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण कई और मुद्दे हैं जिन पर लोगों को गंभीरता से सोच-विचार करने की जरूरत है। ये मुद्दे हमारे देश के मौजूदा दमनकारी पूंजीवादी शासन से शोषित-पीड़ित जनता की मुक्ति के अहम सवाल से जुड़े हुए हैं। इसके लिए द्वितीय विश्वयुद्ध द्वारा अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति में लाये गये व्यापक परिवर्तन की प्रमुख चारित्रिक विशेषताओं को मद्देनजर रखते हुए वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति का एक सही मूल्यांकन करना जरूरी है। क्योंकि, मौजूदा अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति की सही समझ के आधार पर ही हम अपनी

राष्ट्रीय परिस्थिति का वस्तुनिष्ठ आकलन कर सकेंगे, शासक वर्ग की विभिन्न योजनाओं, कार्यक्रमों और नारों के वास्तविक निहितार्थ को समझ सकेंगे, उनमें हावी रुझानों का अध्ययन कर सकेंगे, भावी कार्यक्रम को वैज्ञानिक ढंग से प्रतिपादित कर सकेंगे और अन्ततः देश की जनता को सत्ता प्राप्ति के संघर्ष में नेतृत्व दे सकेंगे।

एक विश्व व्यवस्था बन चुका है समाजवाद

दूसरे विश्वयुद्ध से पहले, एकमात्र अपवाद सोवियत यूनियन को छोड़कर जो कि उस समय अकेला समाजवादी देश था, पूरी दुनिया पूंजीवादी-साम्राज्यवादी शासन के अधीन थी। यह एकमात्र समाजवादी देश भी उस समय चारों तरफ से विश्व पूंजीवाद से घिरा हुआ था। इसके अलावा, पिछले विश्वयुद्ध से पहले पूंजीवाद घोर संकट में फंसे होने के बावजूद पहले से कहीं ज्यादा विकास कर रहा था। घोर संकट में भी पूंजीवादी बाजार सापेक्ष स्थायित्व की स्थिति में था। उस समय सोवियत यूनियन शांति की राह पर चलने वाला अकेला देश था। लेकिन विश्व में शांति कायम रखने की अपनी तमाम कोशिशों के बावजूद सोवियत यूनियन के पास इतनी ताकत नहीं थी कि वह शक्तिशाली साम्राज्यवादी देशों की कुटिल जंगखोर मंशाओं पर लगाम लगा सके। इसके ठीक विपरीत, साम्राज्यवादी देश चूंकि निर्णायक शक्ति बने हुए थे, इसलिए युद्ध और शांति के मसलों पर अक्सर उन्हीं की चलती थी, नतीजतन, साम्राज्यवादी जब-जैसा चाहते थे, युद्ध शुरू कर देते थे।

द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद विश्व स्तर पर एक महत्वपूर्ण परिवर्तन हो चुका है। विश्व की सामाजिक शक्तियों का साफ तौर पर दो अलग-अलग खेमों में ध्रुवीकरण आज का सर्वाधिक महत्वपूर्ण परिवर्तन है। जहां एक तरफ, अमेरिका के नेतृत्ववाला साम्राज्यवादी-फासीवादी युद्ध खेमा है, वहीं दूसरी तरफ, सोवियत यूनियन के नेतृत्ववाला साम्राज्यवाद-विरोधी समाजवादी शांति खेमा है। दुनिया भर के पूंजीवादी देशों को लेकर साम्राज्यवादी युद्ध खेमा बना है, जबकि पीपुल्स डेमोक्रेटिक रिपब्लिक ऑफ अल्बानिया, बुल्गारिया, हंगरी, जर्मन डेमोक्रेटिक रिपब्लिक, मंगोलिया, पोलैण्ड, रोमानिया,

चेकोस्लोवाकिया सोशलिस्ट रिपब्लिक, डेमोक्रेटिक रिपब्लिक ऑफ वियतनाम, कोरिया, सोवियत यूनियन और चीन ने मिलकर समाजवाद एवं शांति का मजबूत खेमा बनाया हुआ है। नतीजतन, दूसरे विश्वयुद्ध के बाद समाजवादी खेमे के आविर्भाव ने समाजवाद को एक देश के दायरे से निकाल कर विश्वव्यापी व्यवस्था में रूपान्तरित कर दिया है। निसंदेह यह आज के समय की एक प्रमुख विशेषता है जो वर्तमान काल को अतीत और युद्ध से पहले के काल से अलग पहचान देती है। इसके आर्थिक नतीजे के तौर पर एकछत्र विश्व पूंजीवादी बाजार का विघटन हो गया है। इसलिए हम देख रहे हैं कि अब एक दूसरे के समानान्तर दो विश्व बाजार मौजूद हैं –एक पूंजीवादी बाजार और दूसरा समाजवादी बाजार।

राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलनों की विजय यात्रा

इसके अलावा एक और महत्वपूर्ण विशेषता है। वह है उपनिवेशों और अर्द्ध-उपनिवेशों में पूर्ण राष्ट्रीय आजादी के लिए राष्ट्रीय आजादी आंदोलनों में हुई अभूतपूर्व वृद्धि, विकास और विजय के फलस्वरूप साम्राज्यवादी औपनिवेशिक व्यवस्था का विघटन। इन आंदोलनों की जबर्दस्त लहर के नतीजे के तौर पर दुनिया का चेहरा तेजी से और बुनियादी तौर पर बदल रहा है। एशिया के हालात बुनियादी तौर पर बदल गये हैं। अफ्रीका में साम्राज्यवादी औपनिवेशिक व्यवस्था अपनी आखिरी सांसे गिनती हुई बुरी तरह लड़खड़ा रही है। आज लातिनी अमेरिकी देशों की जनता पूर्ण राष्ट्रीय आजादी के लिए साम्राज्यवादियों के सरगना अमेरिका के विरुद्ध लगातार संघर्ष में भारी तादाद में शामिल हो रही है। हाल के समय में उपनिवेशों और अर्द्ध-उपनिवेशों में राष्ट्रीय आजादी आंदोलनों के विस्तार और इसकी तीव्रता का अंदाजा हम इस बात से बड़ी आसानी से लगा सकते हैं कि युद्ध के बाद तकरीबन 15 सालों में लगभग 42 नये सम्प्रभु राष्ट्र साम्राज्यवादी शासन की जंजीरों को तोड़कर अस्तित्व में आ चुके हैं जिनमें 120 करोड़ से भी ज्यादा जनता अर्थात दुनिया की तकरीबन आधी आबादी रहती है। साम्राज्यवादी औपनिवेशिक व्यवस्था का पूरी तरह पतन अब दूर भविष्य की बात नहीं रह गया है। यह व्यवस्था खत्म होने के कगाार पर है।

साम्राज्यवादियों के पास दीवार पर लिखी इस इबारत को पढ़ने के सिवाय और कोई चारा नहीं है। उनके लिए परेशानी का सबब होते हुए भी उन्होंने यह समझ लिया था कि युद्ध से पहले के दिनों में जिस तरह वे उपनिवेशों और अर्द्ध-उपनिवेशों में जनता के राष्ट्रीय आजादी आंदोलनों को सिर्फ बर्बर वहशियाना ताकत के जरिये कुचल सकते थे वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति में ऐसा करना असम्भव है। बहुत ही कटु अनुभव के आधार पर साम्राज्यवादियों को इस बात का अन्दाजा हुआ कि ऐसे मामलों में बर्बर दमनकारी शक्तियों का इस्तेमाल यकीनन आग में घी का ही काम करेगा, जिससे न केवल साम्राज्यवादियों को सत्ता से हाथ धोना पड़ेगा, बल्कि ऐसा करना वहां के माहौल को इस कदर गर्मा देगा कि उनके लिए इन औपनिवेशिक देशों में अपने आर्थिक हितों को बनाये रखना भी मुश्किल हो जायेगा। इसलिए, तात्कालिक सुविधावादी (pragmatic) स्वार्थ से संचालित होकर साम्राज्यवादी आज अपनी पुरानी औपनिवेशिक नीति को बदलते जा रहे हैं और उपनिवेशों की सत्ता राष्ट्रीय पूंजीपतियों को सौंपते जा रहे हैं और वे कड़ी शर्तों के तहत तरह-तरह के समझौते व संधियां करते जा रहे हैं ताकि नव स्वाधीनता प्राप्त देशों में पुराने शासकों के आर्थिक हितों को बरकरार रखा जा सके। उपनिवेशों में सीधे-सीधे शासन किये बिना ही औपनिवेशिक शोषण जारी रखना—वे वर्तमान उपनिवेशवाद का यह नया रूप व तरीका अपना रहे हैं।

विश्व पूंजीवाद का गहरता संकट

सर्वव्यापक विश्व पूंजीवादी बाजार के बावजूद, द्वितीय विश्वयुद्ध से पहले भी शक्तिशाली पूंजीवादी देश बाजार के अभाव और बाजार के संकुचन से ग्रस्त थे। पिछले विश्वयुद्ध में कड़े संघर्ष में लिप्त साम्राज्यवादी शक्तियों के दोनों ब्लाक एक दूसरे प्रतिद्वन्द्वी को हराने, अपने दुश्मन के बाजार को हड़पने, दुनिया में अपना वर्चस्व कायम करने, अति उत्पादन के पूंजीवादी संकट से उबरने की चाह से प्रेरित थे। लेकिन युद्ध के नतीजे उनकी उम्मीदों के मुताबिक नहीं निकले, उल्टे इसने बाजार के संकट को और भी ज्यादा बढ़ा दिया है। पूंजीवादी व्यवस्था के अधीनस्थ बहुत बड़ा क्षेत्र जो अब विश्व

समाजवादी बाजार का हिस्सा बन गया है, उसके हाथ से निकल जाने से दुनिया का पूंजीवादी बाजार काफी हद तक सिकुड़ गया है। पूरे विश्व पूंजीवादी बाजार का संकुचन तो हो ही गया था, इसके अलावा, प्रमुख पूंजीवादी-साम्राज्यवादी देशों द्वारा विश्व के संसाधनों का दोहन किये जाने का क्षेत्र और भी तेजी से संकुचित हो गया है, क्योंकि उनके ज्यादातर उपनिवेश राष्ट्रीय स्वतंत्रता प्राप्त करके उनके एकाधिकारी नियंत्रण से बाहर आ चुके हैं। कभी उपनिवेश रहे इन नव स्वाधीनता प्राप्त राष्ट्रों के पूंजीपति न केवल इन देशों की राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का पुनर्निर्माण कर रहे हैं जिससे शक्तिशाली पूंजीवादी देशों का बाजार निरन्तर सिमटता जा रहा है, बल्कि अंतर्राष्ट्रीय बाजार के कुछ-कुछ क्षेत्रों में ये बड़े-बड़े पूंजीवादी देशों के प्रतिद्वन्द्वी के रूप में उभर कर आ रहे हैं। विश्व पूंजीवादी बाजार के मुकाबले एक समानान्तर विश्व समाजवादी बाजार का उभर कर आना और उनका मौजूद रहना पुराने उपनिवेशों के परम्परागत बाजार का विलुप्त हो जाना, पूर्व औपनिवेशिक देशों के पूंजीपति वर्ग का विश्व व्यापार के क्षेत्र में प्रतिद्वन्द्वी के रूप में उभर कर आना आदि विभिन्न कारकों ने मिलकर शक्तिशाली पूंजीवादी देशों के बाजार को काफी हद तक संकुचित कर दिया है। जब सर्वव्यापक पूंजीवादी बाजार जो द्वितीय विश्वयुद्ध से पहले बड़े-बड़े पूंजीवादी-साम्राज्यवादी देशों के पूर्ण नियंत्रण में रहने के बावजूद उनके लिए आपस में शांति से रहने के मामले में बहुत छोटा पड़ गया था, तो इस निष्कर्ष पर पहुंचना तर्क संगत है कि वर्तमान बाजार में बड़ा हिस्सा पाने की उनकी चाह के मुकाबले कहीं ज्यादा छोटा हो गया है (जो निश्चित ही बाकी उपनिवेशों के आजाद होने के साथ अभी और भी संकुचित होता जायेगा)। फलस्वरूप प्रमुख पूंजीवादी-साम्राज्यवादी देशों के बीच विरोध बेहद बढ़ गया है।

यह बात सच है कि संयुक्त राज्य अमेरिका आज तक भी आधुनिक साम्राज्यवाद की प्रमुख आर्थिक, वित्तीय व सैन्य शक्ति बना हुआ है। वह अभी भी दुनिया के पूंजीवादी शोषण का सबसे बड़ा हिस्सेदार है और साम्राज्यवादी युद्ध खेमे का सर्वेसर्वा है। लेकिन उस खेमे के छोटे-छोटे हिस्सेदार अमेरिका की दादागिरी को चुपचाप मानने को तैयार नहीं हैं। अंग्रेज और फ्रांसीसी साम्राज्यवादी अपने खोये हुए बाजारों को वापस पाने

के लिए और अमेरिकी एकाधिकारी पूंजीपतियों को बाजार से बाहर खदेड़ने के लिए जीतोड़ कोशिश कर रहे हैं। जापान और पश्चिम जर्मनी के पूंजीपति जो कि द्वितीय विश्वयुद्ध के तुरन्त बाद से अमेरिकी साम्राज्यवाद के जूते के नीचे शक्तिहीन हुए पड़े थे, उन्होंने भी काफी हद तक अपनी पुरानी ताकत फिर हासिल कर ली है, फिर भी वे अमेरिका की छत्रछाया से अभी भी पूरी तरह बाहर नहीं आ पाये हैं। साम्राज्यवादी खेमे में राष्ट्रकुल, यूरोपियन कॉमन मार्केट आदि नाम के विभिन्न ब्लाकों या गुटों की मौजूदगी अपने आप में विभिन्न शक्तिशाली साम्राज्यवादी देशों के बीच भयंकर परस्पर-विरोधी स्वार्थों का ही प्रतिफलन है। संक्षेप में, द्वितीय विश्वयुद्ध ने पूंजीवाद-साम्राज्यवाद की परेशानी का सबब बनकर पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के आम संकट को और भी गहरा कर दिया है। ऐसे में, पूंजीवादी आम संकट के दौर में बाजार के सापेक्ष स्थायित्व की स्तालिन द्वारा प्रतिपादित सैद्धांतिक व्याख्या और लेनिन की यह थीसिस कि पूंजीवाद कुल मिलाकर पहले की तुलना में कहीं ज्यादा तेजी से बढ़ रहा है—ये मौजूदा नयी आर्थिक परिस्थिति के मद्देनजर अपनी कार्यकारिता खो चुके हैं। निस्सन्देह यह वर्तमान दौर की तीसरी प्रधान चारित्रिक विशेषता है।

अर्थव्यवस्था का सैन्यीकरण एवं हथियारों की होड़

साम्राज्यवादियों ने भी अपनी यह संकटजनक स्थिति भांप ली है और स्वाभाविक रूप से वे इस घनघोर समस्या के चंगुल से निकलने की ताबड़ तोड़ कोशिश कर रहे हैं। वे अंधाधुंध शस्त्रीकरण और उद्योगों के सैन्यीकरण तथा पूंजी के अधिकाधिक संकेन्द्रण के माध्यम से अपनी मुश्किलों से छुटकारा पाने का प्रयास कर रहे हैं। वास्तव में यह बहुत कुछ ऐसा ही है जैसा कि डूबते हुए के लिए तिनके का सहारा, फिर भी संकट के निवारण के लिए साम्राज्यवादी यह सब कर रहे हैं और बढ़ी हुई सैन्य खपत के कृत्रिम बढ़ावा से, चाहे अस्थाई रूप से ही सही, पूंजीवादी बाजार में तेजी बनाये रखने के लिए प्रयासरत हैं। लेकिन परिस्थितियों को सामान्य बनाना तो दूर रहा, उल्टे यह सैन्यीकरण पूंजीवाद के द्वन्द्व और संकट को और भी बढ़ाता जा रहा है। संकट जितना ज्यादा बढ़ता जाता है, अर्थव्यवस्था का सैन्यीकरण

भी उतना ही ज्यादा बढ़ता जाता है। इस प्रकार, एक दुष्चक्र जारी है और इसके फलस्वरूप हथियारों की होड़ बेलगाम बढ़ती जा रही है।

युद्ध और शांति का मसला

समाजवाद न केवल एक विश्व व्यवस्था के रूप में उभरकर आ चुका है, बल्कि अल्पावधि में ही इसने चौतरफा ऐतिहासिक उल्लेखनीय प्रगति भी कर ली है। समाजवादी अर्थव्यवस्था उच्च आधुनिक तकनीक के विकास की बदौलत उत्पादन में निरन्तर विस्तार एवं सुधार लाती जा रही है। इतिहास में पहली बार वास्तविक क्षेत्र में समग्र तौर पर समाज के सभी लोगों की आशा-आकांक्षा और क्रियाकलापों की एकता के आधार पर समाजवाद ने लोगों की सृजनशक्ति के बेरोकटोक स्रोत खोल दिये हैं और उसको समाज के बेरोकटोक विकास के लिए सबसे ज्यादा कारगर ढंग से प्रयोग किया है। घनिष्ठ सहयोग, आपसी सहायता और विश्व साम्यवादी समाज कायम करने का समान लक्ष्य समाजवादी खेमे को प्रतिदिन सुदृढ़ करता जा रहा है। वास्तव में, समाजवादी अर्थव्यवस्था की विशेषता की वजह से ही समाजवादी देश विश्व शांति बनाये रखने को प्रतिबद्ध हैं, अकेले समाजवादी देशों की वर्तमान संयुक्त शक्ति सारे युद्धखोर साम्राज्यवादियों की संयुक्त शक्ति पर भारी पड़ती है। सर्वोपरि, एशिया और अफ्रीका के नव स्वाधीन पूंजीवादी देश अपनी पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के विकास के मद्देनजर फिलहाल विश्वशांति बनाये रखने के पक्षधर हैं, जो विकास एक और विश्वयुद्ध छिड़ जाने से अवरुद्ध हो जायेगा। इसके अलावा, आज पूरे विश्व के आम लोग हर तरह के नाजायज युद्धों के खिलाफ हैं और वे विश्व शांति की रक्षा के लिए समाजवादी खेमे की कोशिशों का तहेदिल से समर्थन करते हैं। दूसरी तरफ, शक्तिशाली पूंजीवादी देशों के बीच विरोध और भी तीव्रतर हो गया है। विकसित पूंजीवादी देशों में मजदूर आंदोलन लगातार जोर पकड़ता जा रहा है। उपनिवेशों और अर्द्ध-उपनिवेशों में राष्ट्रीय आजादी आंदोलन तेजी से आगे बढ़ता जा रहा है। इन सभी कारकों ने मिलकर साम्राज्यवाद की शक्ति को काफी कमजोर कर दिया है। नतीजतन, *वर्तमान में शांति की हिमायती ताकतें नाजायज युद्ध की हिमायती ताकतों से ज्यादा मजबूत हैं। दुनिया की शांतिकामी जनता के लिए अब यह संभव है कि समाजवादी*

शांति खेमे के नेतृत्व के तहत शांति को इन युद्धखोर साम्राज्यवादी ताकतों पर थोप दे और साम्राज्यवादी ताकतों को दूसरे देशों के अन्दरूनी मामलों में दखलअंदाजी करने से रोक दे। मिस्र में एंग्लो-फ्रैंको-इजरायली घुसपैठ के खिलाफ सोवियत संघ, चीन व अन्य समाजवादी देशों का दृढ़ संकल्पित रुख इसकी मुंह बोलती मिसाल है।* इन अनुकूल परिस्थितियों के फलस्वरूप *अब कहीं जाकर विश्व शांति को अक्षुण्ण बनाये रखने की सही मायने में सम्भावनाएं मौजूद हैं।* यह वर्तमान दौर का एक और विशिष्ट लक्षण है।

लेकिन इससे यह निष्कर्ष निकाल लेना गलत होगा कि नई अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के उभरकर आने से लेनिन की यह थीसिस निष्प्रभावी हो गयी है कि साम्राज्यवाद अवश्यम्भावी रूप से युद्ध को जन्म देता है। इसका कारण यह है कि पूंजीवाद-साम्राज्यवाद हालांकि अब पहले की तरह सर्वव्यापी विश्व व्यवस्था के रूप में नहीं रह गया है और पहले से काफी कमजोर भी हो गया है, फिर भी यह विश्वास कर लेने का कोई कारण नहीं है कि साम्राज्यवाद अपने आप खत्म हो जायेगा या यह कि इसने प्रहार करने और युद्ध छेड़ने की अपनी सारी शक्ति खो दी है। क्योंकि साम्राज्यवाद न केवल एक विश्व व्यवस्था के रूप में आज भी अस्तित्व में है, बल्कि मजबूती से टिका हुआ भी है। चौतरफा दबावों से घिरा और गहराते संकटों से कष्ट झेल रहा साम्राज्यवाद अर्थव्यवस्था के सैन्यीकरण की तरफ ज्यादा से ज्यादा झुकता जा रहा है। अर्थव्यवस्था का जितना ज्यादा सैन्यीकरण होता जा रहा है, साम्राज्यवाद उतनी ही प्रचण्डता से दुस्साहसिक कार्यों की तरफ बढ़ता जा रहा है। पूंजीवादी तौर पर सबसे विकसित देश अमेरिका सैन्यीकृत अर्थव्यवस्था वाला सर्वाधिक शक्तिशाली देश हो गया है। आज यह विश्व प्रतिक्रिया का गढ़ और अंतर्राष्ट्रीय थानेदार बना हुआ है। ब्रिटिश तथा फ्रांसिसी साम्राज्यवादियों से मिलकर अमेरिकी साम्राज्यवादियों ने बहुत सारे देशों को नाटो, सेन्टो, सियटो आदि आक्रामक ब्लाकों में खींच लिया है। समाजवादी देशों की घेराबन्दी करने के मकसद से उन्होंने पूरी दुनिया में सैकड़ों फौजी अड्डे कायम

* 1956 के स्वेज संकट के प्रसंग में

कर लिये हैं, परमाणु बम व अन्य जन-संहारक विनाशकारी हथियारों का जखीरा जमा कर लिया है, चन्द पलों के नोटिस पर उन्हें हरदम तैयार रखा हुआ है। उन्होंने विश्व जनमत के खिलाफ जाकर पश्चिमी जर्मनी में जर्मन प्रतिशोधी मानसिकता तथा जापान में जापानी सैन्यवाद को पुनर्जीवित कर दिया है। *दरअसल, हथियारों की होड़ के अपने पुराने तमाम रिकार्ड तोड़ते हुए साम्राज्यवादी देश अपनी युद्ध की तैयारी में पूरी तरह लगे हुए हैं। यह एक नये विश्वयुद्ध के खतरे को बहुत ही वास्तविक बना देता है।* ऐतिहासिक रूप से विचार करके देखने पर भी कहें, तो चाहे क्षेत्रीय ही सही, आज भी दुनिया कई तरह के युद्धों की गवाह बनी हुई है। क्या लाओस और पश्चिमी आइरिन* में साम्राज्यवादी अभी भी आक्रामक युद्ध नहीं चला रहे हैं?

बदली हुई वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति में युद्ध होना नियति के रूप में अवश्यम्भावी नहीं है। इस बात पर जोर देना एक बात है। निस्संदेह बहुत महत्वपूर्ण बात भी है, लेकिन यह कहना बिल्कुल अलग बात है कि साम्राज्यवाद के युग में पूंजीवादी देशों के बीच युद्धों की अवश्यम्भाव्यता के संबंध में लेनिन की थीसिस अकार्यकारी हो गयी है। मार्क्सवाद विज्ञान के नियमों को ऐसी वस्तुनिष्ठ प्रक्रियाओं का प्रतिबिम्बन मानता है जो मनुष्य की इच्छा से स्वतंत्र रूप में कार्यरत हैं–ये नियम चाहे प्राकृतिक विज्ञान के हों या राजनैतिक अर्थशास्त्र के। ''मनुष्य इन नियमों की खोज कर सकता है, उन्हें जान सकता है, उनका अध्ययन कर सकता है, उन्हें अपने कार्यकलापों में समझ सकता है और समाज के हित में उनका उपयोग कर सकता है। लेकिन वह उन्हें बदल या मिटा नहीं सकता। विज्ञान के नये नियम बनाने या गढ़ने की बात तो दूर रही।'' (स्तालिन, *'सोवियत संघ में समाजवाद की आर्थिक समस्याएं'*)। *साम्राज्यवाद के युग में युद्धों की अवश्यम्भाव्यता का नियम* राजनैतिक अर्थशास्त्र का *एक नियम है जो कि इस युग की विशेष आर्थिक परिस्थितियों से ही उपजा है। मुख्यतः ये परिस्थितियां हैं विभिन्न पूंजीवादी-साम्राज्यवादी देशों के बीच बाजार को लेकर प्रतिद्वन्द्विता*

---

* डचों के अधीनस्थ न्यू गिनी

और साम्राज्यवादी युग में इस विरोधात्मक द्वन्द्व की तीव्रता में बढ़ोतरी। जब तक ये परिस्थितियां बनी रहेंगी, तब तक पूंजीवादी देशों के बीच युद्धों की अवश्यम्भाव्यता का नियम भी बना रहेगा। वर्तमान परिस्थितियों की बजाय जब नयी आर्थिक परिस्थितियां पैदा हो जायेंगी, तब और केवल तभी युद्धों की अवश्यम्भाव्यता का नियम अपनी कार्यकारिता खो देगा। कुछ लोग यह दलील देते हैं चूंकि समाजवादी शांति खेमे और साम्राज्यवादी युद्ध खेमे के बीच के द्वन्द्व पूंजीवादी देशों के बीच के द्वन्द्व की तुलना में अधिक तीव्र हो गये हैं और चूंकि अमेरिका ने दूसरे-दूसरे पूंजीवादी देशों को अपने प्रभाव में इतना अधिक ले लिया है कि अब उन्हें एक दूसरे के विरुद्ध युद्ध करने और एक दूसरे को कमजोर करने से रोकने में सक्षम है। इसलिए पूंजीवादी देशों के बीच अब कभी युद्ध नहीं होगा, और इसलिए साम्राज्यवाद के युग में पूंजीवादी देशों के बीच अब युद्धों की अवश्यम्भाव्यता का नियम लागू नहीं रहा। अवश्य ही, सैद्धांतिक तौर पर यह बात सही है कि दो खेमों के बीच द्वन्द्व दुनिया में प्रधान द्वन्द्व है जो अब प्रधानतः विश्व घटनाक्रम को तय करता है। यह बात भी समान रूप से सही है कि बाहर से देखने में पूंजीवादी देशों के बीच सब कुछ सही सलामत चल रहा लगता है। लेकिन न तो युद्धों का मूल कारण दो खेमों के बीच द्वन्द्व में निहित है और न ही पूंजीवादी देशों के बीच सब कुछ 'सही सलामत' चलता लगना वास्तविकता को प्रतिबिम्बित करता है। पूंजीवादी देशों के बीच विरोधात्मक द्वन्द्व पहले ही बहुत तीव्र हो गये हैं। युद्धों का असल कारण निश्चित ही पूंजीवादी देशों के बीच के विरोधात्मक द्वन्द्वों में निहित है जो व्यवहार में साम्राज्यवादी युद्ध खेमे तथा समाजवादी शांति खेमे के बीच चलने वाले द्वन्द्व से ज्यादा तीव्र है। *इसलिए द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में हुए बहुत सारे उल्लेखनीय परिवर्तनों के बावजूद जिन आर्थिक परिस्थितियों ने लेनिन को पूंजीवादी राष्ट्रों के बीच युद्धों की अवश्यम्भाव्यता के नियम को सूत्रबद्ध करने की ओर अग्रसर किया था, वे साम्राज्यवाद के युग में अभी भी मौजूद हैं। इसलिए यह नियम अकार्यकारी नहीं हो सकता।* जब तक युद्धों की अवश्यम्भाव्यता का नियम रहेगा, तब

तक युद्धों का खतरा भी बना रहेगा। ये युद्ध दो पूंजीवादी देशों के बीच हो सकते हैं, जैसा कि हालैण्ड और इण्डोनेशिया के बीच मामला है जो कि अब पश्चिमी आइरियन में जारी है। वे ऐसे युद्ध का रूप भी ले सकते हैं जिसमें एक तरफ एक पूंजीवादी देश हो, तो दूसरी तरफ कई पूंजीवादी देश, जैसे कि मिस्र और एंग्लो-फ्रैंको इजरायली गठजोड़ के बीच हो रहा है। यहां तक कि दो खेमों के देशों के बीच भी युद्ध हो सकता है। उत्तर कोरिया का साम्राज्यवादी-फासीवादी खेमे के विरुद्ध वीरतापूर्ण संघर्ष इसी प्रकार का युद्ध है। ये कहीं-कहीं गृहयुद्ध का भी रूप ले सकते हैं। ये आजकल लाओस में सियेटो (SEATO) ताकतों द्वारा समर्थित शोषक वर्ग के विरुद्ध चल रहे मुक्ति युद्ध जैसे युद्ध का रूप भी ले सकते हैं। परिवर्तन चाहे जितने भी आ चुके हों, ये तथ्य साबित करते हैं कि पूंजीवादी देशों के बीच युद्ध आज भी कम नहीं हुए हैं। ये पूंजीवादी देशों के बीच युद्धों की अवश्यम्भाव्यता के नियम के अनुसार ही हो रहे हैं। ये युद्ध क्षेत्रीय ही सही, एक विश्वयुद्ध का भी रूप ले सकते हैं और अगर विश्वयुद्ध छिड़ा, तो शुरुआती दौर में केवल पूंजीवादी देशों को ही लपेटे में लेने पर भी, यह युद्ध केवल पूंजीवादी देशों तक ही सीमित नहीं रहेगा। यह सारी सम्भावनाओं के साथ दोनों खेमों के बीच निर्णायक वर्ग-संघर्ष की ओर ले जायेगा। युद्धों का खात्मा केवल तभी किया जा सकेगा, जब साम्राज्यवाद का खात्मा होगा, जब समाजवादी क्रांति पूरे विश्व में विजयी हो जायेगी या जब वर्तमान पूंजीवादी घेराबन्दी की जगह एक समाजवादी घेराबन्दी ले लेगी। संक्षेप में, जब समाजवाद निर्णायक शक्ति की तरह कमाण्ड करने लगेगा या दूसरे शब्दों में यूं कहें कि युद्ध और शांति के मसले पर एक निर्णायक आवाज बन जायेगा, तभी युद्धों का खात्मा होगा।

इस प्रकार, बदली हुई वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति में, शांति बनाये रखने की संभावना और युद्ध भड़क उठने का खतरा, दोनों ही समान रूप से वास्तविक हैं। किसी एक पर अत्यधिक जोर देना और दूसरे को नजरअंदाज कर देना अक्षम्य गलती होगी। संतुलित दृष्टिकोण का अभाव या तो वास्तविकता से परे कोरी सिद्धांतवादिता या फिर

संशोधनवाद की तरफ ले जायेगा। ये दोनों ही मजदूर वर्ग को सैद्धांतिक रूप से कमजोर बना देंगे।

शांति आंदोलन

यह बात कहने की कोई खास जरूरत नहीं है कि वर्तमान समय का शांति आंदोलन एक नये किस्म का जन आंदोलन है- युद्ध पूर्वकाल में जिसकी कोई मिसाल नहीं मिलती। अन्य एक विश्वयुद्ध के प्रति आम आदमी की नफरत और विश्व शांति बरकरार रखने की तीव्र अभिलाषा इस जन आंदोलन के द्वारा सही तरह से अभिव्यक्त हुई है। इसलिए यह दिन-प्रतिदिन जोर पकड़ता जा रहा है। वर्तमान समय के शांति आंदोलन का लक्ष्य और सीमाबद्धताएं क्या-क्या हैं? स्तालिन ने सरल स्वाभाविक विशिष्टता के साथ अपनी किताब *'सोवियत संघ में समाजवाद की आर्थिक समस्याएं'* (Economic Problems of Socialism in USSR) में इस बारे में चर्चा की है। वह चर्चा इतनी सही और सुस्पष्ट है कि हम इस किताब का कुछ हिस्सा यहां उद्धृत किये बगैर नहीं रह सकते। ''आज चल रहे शांति आंदोलन का उद्देश्य शांति को बनाये रखने तथा एक और विश्वयुद्ध को रोकने के लिए जनता को प्रोत्साहित करना है। लिहाजा इस आंदोलन का उद्देश्य पूंजीवाद को उखाड़ फेंकना और समाजवाद की स्थापना नहीं है—इसका उद्देश्य तो मात्र शांति बनाये रखने के जनतांत्रिक लक्ष्य तक सीमित है। इस रूप में आज का यह शांति आंदोलन प्रथम विश्वयुद्ध के बाद चले आंदोलन से भिन्न है, क्योंकि उसका लक्ष्य था साम्राज्यवादी युद्ध का गृहयुद्ध में बदल देना। उस समय चला आंदोलन समाजवादी लक्ष्य ग्रहण कर गया था।

यह संभव है कि अनेक परिस्थितियों के संयोग से यहां-वहां कुछ जगह शांति का यह संघर्ष समाजवाद के लिए संघर्ष में बदल जाये। लेकिन तब यह आज का शांति आंदोलन न होकर पूंजीवाद को उखाड़ फेंकने का आंदोलन बन जायेगा।

यह बहुत संभव है कि शांति बनाये रखने के लिए चला वर्तमान शांति आंदोलन यदि सफल हो जाये, तो एक ***विशेष*** युद्ध को रोकने, उसके अस्थाई स्थगन, एक ***विशेष*** क्षेत्र में शांति की सामयिक तौर पर रक्षा, युद्धप्रिय सरकार को हटाकर उसकी जगह सामयिक तौर पर शांति

बनाये रखने के लिए तैयार सरकार की स्थापना आदि परिणामों पर पहुंचे। यह एक अच्छी बात होगी। बहुत अच्छी बात होगी। लेकिन इसके बावजूद आम तौर पर पूंजीवादी देशों के बीच युद्धों की अवश्यम्भाव्यता को समाप्त करने के क्षेत्र में यह काफी नहीं होगा। यह इसलिए काफी नहीं होगा, क्योंकि शांति आंदोलन की तमाम सफलताओं के बावजूद साम्राज्यवाद एक शक्ति बना रहेगा और परिणामस्वरूप युद्धों की अवश्यम्भाव्यता भी बनी रहेगी। युद्ध की अवश्यम्भाव्यता को समाप्त करने के लिए साम्राज्यवाद को मिटाना जरूरी है।'' लेकिन इस सीमाबद्धता के बावजूद, वर्तमान शांति आंदोलन का एक क्रांतिकारी तात्पर्य भी है। किसी भी समस्या के बारे में एक मार्क्सवादी-लेनिनवादी व्यक्ति का रुख-रवैया हमेशा क्रांतिकारी प्रयोजनबोध से ही संचालित होता है। शांति आंदोलन की क्रांतिकारी समझदारी और उचित-अनुचित, हर तरह के युद्ध की विरोधी मानसिकता वाले शांतिवादी भ्रम के बीच यही तो फर्क है। *एक क्रांतिकारी के ख़याल से सिर्फ शांति के लिए ही शांति नहीं होती, बल्कि उसके लिए तो शांति का मतलब होता है जीवन का सबसे ज्यादा मंगलकारी और सुन्दरतम विषय। इसी वजह से एक क्रांतिकारी हर तरह के युद्ध का विरोधी नहीं होता है और न ही हर तरह की शांति का पक्षधर होता है। वह अन्यायपूर्ण युद्ध के खिलाफ होता है, लेकिन न्यायोचित युद्ध का समर्थन करता है अर्थात शोषणमूलक व्यवस्था से आम आदमी की मुक्ति की लड़ाई का वह समर्थन करता है। उसी तरह से वह न्याय-अन्याय की धारणा रहित हर तरह के युद्ध की विरोधी मानसिकता से बने कपोल कल्पित शांतिवाद (Pacifism) के खिलाफ होता है, लेकिन वह उस शांति का हर तरह से समर्थन करता है जो क्रांति की मदद करती है।* असल में अगर सही-सही समझा जाये और सही ढंग से संचालित किया जाये, तो वर्तमान समय के शांति आंदोलन का एक क्रांतिकारी तात्पर्य है। अक्तूबर क्रांति के दौरान रूस के मजदूर वर्ग को और दूसरे तबकों की शोषित-पीड़ित जनता को सिर्फ अपने देश के शासक पूंजीपति वर्ग के ही खिलाफ लड़ाई नहीं करनी पड़ी थी, बल्कि क्रांति के फलों को संचित करने की प्रक्रिया में हस्तक्षेपकारी सभी शक्तिशाली साम्राज्यवादी शक्तियों से भी मुकाबला करना पड़ा था। चीन के मजदूर-किसानों को

भी सिर्फ च्यांग काई शेक के शासन का ही खात्मा नहीं करना पड़ा, बल्कि च्यांग गुट की मददगार अमेरिकी सैन्य शक्ति का भी खात्मा करना पड़ा था। लेकिन बदली हुई अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति में शांति आंदोलन के दबाव से आज विभिन्न देशों में क्रांतिकारी आंदोलनों में जो उन देशों का अन्दरूनी मामला है, साम्राज्यवादियों को दखलअंदाजी करने से रोकना बिल्कुल संभव है। यह शांति आंदोलन किसी पूंजीवादी देश में मजदूर वर्ग व अन्य तबकों के शोषित लोगों द्वारा क्रांति के जरिये उस देश के पूंजीपति वर्ग को सत्ता से उखाड़ फेंकना आसान बना देता है। *आज के समय के शांति आंदोलन का क्रांतिकारी तात्पर्य सुस्पष्ट रूप से इसी तथ्य में अंतर्निहित है कि इसने आज अंतर्राष्ट्रीय पैमाने पर एक ऐसी अनुकूल परिस्थिति पैदा कर दी है कि चाहे उन्नत देश हों या आश्रित देश हों, सभी देशों की क्रांतिकारी ताकतों के लिए किसी भी किस्म के विदेशी हस्तक्षेप व घुसपैठ के बगैर वहां के लोगों को अपने-अपने वर्ग दुश्मन के खिलाफ क्रांतिकारी संघर्ष चलाना संभव कर दिया है।* इसलिए, मजदूर वर्ग के नेतृत्व में संचालित विश्वव्यापी शांति आंदोलन या समाजवादी देशों द्वारा अनुसरण की गयी शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति को राजनैतिक पैंतरेबाजी के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए और न ही इसे युद्ध की तैयारी के लिए समय लेने का चतुराई भरा हथकण्डा समझना चाहिए, बल्कि इसके विपरीत इनमें से हरेक नीति विकसित पूंजीवादी देश में समाजवादी क्रांति सम्पन्न करने और उपनिवेशों व अर्द्ध-उपनिवेशों में राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन की प्रक्रिया तेज करने का एक पेचीदा क्रांतिकारी तौर-तरीका है। इस तरह, युद्ध थोपने वाली ताकतों पर शांति कायम रखने वाली ताकतों का वर्चस्व और साम्राज्यवादी देशों की ताकत की तुलना में समाजवादी देशों की ताकत ज्यादा होने की वजह से पूंजीवादी और औपनिवेशिक देशों में क्रांतिकारी लड़ाई की ताकत में तेजी से इजाफा होने और विकसित होने की वास्तविक स्थिति अब पैदा हो गयी है। लेकिन खेद की बात यह है कि इस तरह की अनुकूल स्थिति पैदा हो जाने के बावजूद क्रांति की तैयारी में बहुत ही कम तरक्की दिखाई दे रही है। नव स्वाधीनता प्राप्त पूर्व औपनिवेशिक देशों के जन आंदोलनों की प्रकृति और चरित्र को बारीकी से देखने से इस कथन

की सच्चाई साबित हो जायेगी। इन देशों में मजदूर आंदोलन वास्तव में, वैचारिक तौर पर शक्तिहीन कर दिया गया है। इसकी एक और वजह यह भी है कि एशिया, अफ्रीका के इन सब देशों के शासक पूंजीपति वर्ग की साम्राज्यवाद-विरोधी भूमिका और उनके जो सब क्रियाकलाप विश्व शांति कायम रखने में मदद कर रहे हैं, सिर्फ उनको ही बहुत बढ़ाचढ़ा कर दिखाया जा रहा है, लेकिन नव स्वाधीनता प्राप्त पूंजीवादी देशों की गैर भरोसेमंद शांति नीति के साथ समाजवादी देशों की अडिग शांति नीति में जो बुनियादी फर्क है उसे दिखाने के लिए कोई प्रयास नहीं किया गया है। इन देशों की सत्ता के ढांचे व प्रशासनिक अंगों में जो फासीवादी रुझान बढ़ता जा रहा है, उस बढ़ते फासीवादी रुझान पर गौर ही नहीं किया गया है। इन देशों के पूंजीपति वर्ग के साम्राज्यवादी-विस्तारवादी रुझानों में जो लगातार बढ़ोतरी हो रही है, उसके इस स्वरूप को उजागर करने की कोई कोशिश नहीं की जा रही है। कोई भी सच्चा मार्क्सवादी इस बात को नकार नहीं सकता कि *एशिया, अफ्रीका के पूर्व उपनिवेशों से उभरकर आये नव स्वाधीनता प्राप्त देशों का शासक पूंजीपति वर्ग आज साम्राज्यवाद-विरोधी और शांतिकामी इसलिए नहीं है कि वह अपने देश के आर्थिक आधार के हित में बुनियादी तौर पर साम्राज्यवाद-विरोधी और शांतिकामी है, बल्कि इसलिए है कि वर्तमान साम्राज्यवादी ताकतों के स्वार्थ और फिलहाल विश्वयुद्ध छिड़ने की संभावना उनकी जल्द से जल्द पूंजीवादी-साम्राज्यवादी ताकत के रूप में उभरने की महत्वाकांक्षा पूरी करने के रास्ते में जबरदस्त दुर्लंघनीय रुकावट पेश कर सकती है। यही बोध उनको वर्तमान में साम्राज्यवाद-विरोधी और शान्तिकामी बना दे रहा है।* विश्व साम्राज्यवाद की जंजीर को तोड़ने का जहां तक सवाल है, उपनिवेशों और अर्द्ध उपनिवेशों में राष्ट्रीय मुक्ति-आंदोलन, निसंदेह, बहुत ही महत्वपूर्ण क्रांतिकारी भूमिका अदा करते आ रहे हैं। ये राष्ट्रीय आजादी आंदोलन विश्व शांति कायम रखने के मामले में भी कोई कम भूमिका अदा नहीं कर रहे हैं। लेकिन साथ ही यह बात भी याद रखें कि साम्राज्यवाद और सर्वहारा क्रांति के वर्तमान युग में उपनिवेशों और आर्थिक तौर पर दूसरे देशों पर आश्रित देशों में राष्ट्रीय आजादी आंदोलन विश्व सर्वहारा क्रांति के अभिन्न अंग

हैं। एशिया-अफ्रीका के पूर्व उपनिवेशों से उभरकर आये नव स्वाधीनता प्राप्त देशों का मजदूर वर्ग अगर यह बात भूल जाये और राष्ट्रीय आजादी आंदोलनों को उनका सही अंजाम देने में अर्थात सर्वहारा क्रांति को पूरी करने में नाकाम हो जाये और इन देशों का राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग अगर मजदूर वर्ग के आंदोलन की कमजोरी और नाकामी का फायदा उठाकर अपनी स्थिति मजबूत करने में कामयाब हो जाये, तो यही पूंजीपति वर्ग एक समय में आकर, समाजवाद के लिए होने वाले संघर्ष के खिलाफ एशिया-अफ्रीका में विश्व साम्राज्यवाद के जेहाद में उनका पक्का दलाल बन जायेगा। नव स्वतंत्रता प्राप्त राष्ट्रीयतावाद की इस विशेषता को नजरअंदाज करना कम्युनिस्टों के लिए ठीक नहीं होगा।

जबरदस्त आर्थिक केन्द्रीकरण

पूंजीवादी बाजार के सापेक्ष स्थायित्व के न रहने और लगातार बढ़ते अन्दरूनी व बाहरी विरोधात्मक द्वन्द्वों का सामना करने की वजह से अलग विशेषता लिये हुए बदली हुई स्थिति में शक्तिशाली पूंजीवादी देश महसूस करते हैं कि पूंजी का सर्वव्यापक केन्द्रीकरण किये बगैर और उसके द्वारा अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में प्रतिस्पर्द्धा की अपनी क्षमता बढ़ाये बगैर उनके लिए अपने संकट से उबर पाना बिल्कुल असंभव है। नतीजतन, पूंजी का केन्द्रीकरण अभूतपूर्ण आयाम लेता जा रहा है। एकाधिकारी पूंजी के राज्य एकाधिकारी पूंजी में तब्दील होने की प्रक्रिया तेज होती जा रही है और सामान्यत: राज्य के स्वार्थ के साथ एकाधिकारी पूंजीपतियों का स्वार्थ एकाकार होता जा रहा है और यही सब मिलकर फासीवाद की आधारशिला स्थापित करता है।

याद रखें, पूर्ववर्ती उपनिवेशों से उभरकर आये नव स्वतंत्रता प्राप्त देश जो पूंजीवाद के मामले में कम विकसित हैं, उनकी समस्याएं शक्तिशाली पूंजीवादी देशों की समस्याओं से कुछ अलग किस्म की हैं। विकसित पूंजीवादी देश अतिरिक्त पूंजी और अति उत्पादन के जिस संकट से त्रस्त हैं, उस संकट से ये कम विकसित या अनुन्नत देश ग्रस्त नहीं हैं। उनकी तात्कालिक समस्या यह है कि वे जितना संभव हो कम से कम समय में कैसे औद्योगिक विकास हासिल कर सकें

और शक्तिशाली पूंजीवादी देश के रूप में उभरें। साम्राज्यवाद और सर्वहारा क्रांति के वर्तमान युग में पूंजीवादी रास्ते से उन्नत देशों में पूंजी के तेजी से हो रहे केन्द्रीकरण और राजकीय एकाधिकारी पूंजीवाद के आगमन के माहौल में, जिनका प्रभाव पिछड़े पूंजीवादी देशों की अर्थव्यवस्था पर अवश्य ही पड़ेगा। नतीजतन, पहले जैसे निर्बाध वाणिज्यिक नीति व खुली प्रतियोगिता (Laissez-faire) के रास्ते जिस तरह औद्योगिक विकास होता था, उसके विपरीत अब इन पूंजीवादी तौर पर पिछड़े हुए देशों में औद्योगिक विकास असंभव है। विकसित पूंजीवादी देशों की तुलना में ये पिछड़े हुए देश औद्योगिकीकरण के मामले में सौ साल से भी ज्यादा पिछड़े हुए हैं। उद्योग-धंधों के क्षेत्र में देर से आविर्भाव होने की वजह से यह जो पिछड़ापन और कमी-खामी इन सब देशों में दिखाई दे रही है, इससे ये उबर सकते थे अगर ये अपनी-अपनी घरेलू मांग के अनुसार औद्योगिक विकास करते। लेकिन वह रास्ता तो बन्द है। तथ्य यह है कि इन देशों की जनता की क्रय क्षमता अकल्पनीय रूप से नितांत कम होने की वजह से इन सब देशों का अन्दरूनी बाजार ज्यादा से ज्यादा संकुचित होता जा रहा है। इसलिए, उद्योगों के विकास अर्थात औद्योगिकीकरण के लिए इन सब देशों के शासक पूंजीपति वर्ग के पास एक ही विकल्प बचा हुआ है कि वे बाहरी बाजार पर कब्जा करें। लेकिन बाहरी बाजार कमोबेश शक्तिशाली पूंजीवादी देशों के कब्जे में है और जब तक उन्हें वहां से बाहर धकेल देना संभव नहीं होगा, तब तक विदेशी बाजार पर कब्जा करने का जरा-सा भी मौका उन लोगों को नहीं है। इसलिए मुख्यतः उन्हें जबरदस्त प्रतिस्पर्द्धात्मक ताकत की जरूरत है। लेकिन निकट भविष्य में, ऐसी ताकत का धनी होने का दर्जा हासिल करना करीब-करीब असंभव है, जब तक कि ये एक सदी पिछड़े हुए हैं और इस औद्योगिक पिछड़ेपन को जल्द से जल्द पार नहीं कर लेते। तमाम कोशिशों के बावजूद किसी एक पूंजीपति के द्वारा यह काम करना संभव नहीं होगा। इसलिए राजसत्ता को आगे आना होगा। इसलिए विकसित पूंजीवादी देशों में जिस तरह देखा जाता है, उसी तरह, इन पिछड़े हुए पूंजीवादी देशों में भी निजी पूंजी के संकेन्द्रण, राजकीय पूंजी के विकास और इन दोनों के मिलन के आधार पर राजकीय एकाधिकारी पूंजी के

जन्म और योजनाओं आदि का सहारा लेकर व्यक्ति पूंजीपतियों के बीच आपसी प्रतिस्पर्द्धा को घटाकर न्यूनतम कर देना आदि ये सारी प्रक्रियाएं काम कर रही हैं, हालांकि कुछ भिन्न उद्देश्य से। *शक्तिशाली पूंजीवादी देशों ने अतिरिक्त उत्पादन, अतिरिक्त पूंजी और बाजार के संकट से उबरने के लिए सैन्यीकृत अर्थव्यवस्था और पूंजी के केन्द्रीकरण का रास्ता अपना लिया है, जबकि पिछड़े हुए पूंजीवादी देश भी पूंजी के केन्द्रीकरण और योजना के पीछे पड़े हुए हैं ताकि वे जल्द से जल्द औद्योगिक विकास हासिल कर सकें, प्रतिस्पर्द्धा के क्षेत्र में शक्तिशाली पूंजीवादी देशों की बराबरी को छू सकें और विदेशी बाजार में वे भी ताकतवर प्रतिद्वन्द्वी के रूप में उभर सकें। लेकिन इस सब कुछ के बावजूद विकसित या अविकसित दोनों ही किस्म के पूंजीवादी देश इन कामों के जरिये फासीवाद की आर्थिक बुनियाद रख रहे हैं।*

फासीवाद की चारित्रिक विशेषता

फासीवाद प्रतिक्रांति का एक इतिहास द्वारा निर्धारित रूप है जो क्रांति को रोकने के लिए पूंजीवाद द्वारा उठाया गया अग्रिम (anticipation) कदम है। मौजूदा व्यवस्था के खिलाफ आम लोगों के बढ़ते हुए असंतोष को देखते हुए इस संकटग्रस्त, अव्यवस्थाग्रस्त, बदनाम हो चुकी पूंजीवादी व्यवस्था को ढह जाने से बचाना ही जिसका मकसद है। परिस्थितियों के एक विशेष मोड़ पर, जब पूंजीवाद की प्रचलित सामान्य आर्थिक बनावट, राजनीतिक संस्था, प्रशासनिक मशीन इसके बढ़ते हुए संकट से निपटने में नाकाम हो जाती है, जब बाजार के स्थायित्व को किसी भी तरह से बचा पाना और अधिकतम मुनाफा कमाना करीब-करीब असंभव हो जाता है, जब संकट के चलते जीवन में पैदा हुई अनिश्चितता की कठोर ठोकरों से आम आदमी मौजूदा स्थिति को बदल डालने की जरूरत महसूस करता है–तब ऐसी स्थिति में पूंजीपति वर्ग पूंजीवादी व्यवस्था में अधिकतम मुनाफा कमाने के बुनियादी नियम के सबसे ज्यादा कारगर संचालन के लिए संसदीय जनतंत्र का चोगा पहन कर थोपी हुई पूंजीपति वर्ग की तानाशाही को ओट में रखने वाले तमाम पर्दों को उतार फेंक देता है। ये ऐतिहासिक परिस्थितियां फासीवाद में कुछ सामान्य चारित्रिक विशेषताओं को पैदा करती हैं जो उसे पहचानने में मदद करती हैं। वे हैं

मुख्यत: आर्थिक केन्द्रीकरण, राज्य के हाथों में अधिकतम राजनीतिक शक्तियों का केन्द्रीकरण और प्रशासन में अड़ियल रुख लिये कठोरता। ये सब ज्यादा से ज्यादा राजसत्ता के स्वार्थ के साथ एकाधिकारी पूंजीपतियों के स्वार्थ को एकाकार कर देते हैं और सांस्कृतिक तौर पर दिमाग को एक सांचे में ढाल देते हैं (Cultural regimentation)। इस आर्थिक केन्द्रीकरण, राजनीतिक शक्तियों के संकेन्द्रण, प्रशासनिक कठोरता, सांस्कृतिक तौर पर दिमाग को एक सांचे में ढालना और राज्य के स्वार्थ व एकाधिकारी पूंजी के स्वार्थ के एकात्मीकरण की मात्रा सभी देशों में एक जैसी नहीं है। वह निर्भर करती है हर देश में समाज की अन्दरूनी स्थिति के ऊपर जो स्वाभाविक रूप से हर देश में भिन्न भिन्न है।

फासीवाद के बाहरी रूप के बारे में भी कोई एक ही घिसा-पिटा पैटर्न या ढांचा नहीं है। वह विभिन्न देशों की स्थानीय स्थिति के माफिक आने वाला भिन्न-भिन्न रूप धारण करता है। कहीं वह व्यक्तिगत तानाशाही के रूप में है और कहीं राजकाज चलाने के उद्देश्य से गठित सैन्य अधिकारियों की जुण्डली के निरंकुश शासन का रूप लिये हुए है। फिर दूसरे किसी-किसी देश में संसद को अभी बरकरार रखे हुए है लेकिन साथ-साथ आर्थिक-राजनीतिक केन्द्रीकरण का सहारा लेकर उसकी शक्तियों को सीमित करके, फासीवाद एक जनवादी मुखौटा पहन लेता है। *सरकार की दो दलीय संसदीय प्रणाली के जरिये 'जनवादी' रूप में फासीवाद का आविर्भाव निश्चित रूप से द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद की एक सामाजिक परिघटना है, इतिहास में जिसकी कोई नजीर नहीं मिलती। यह जाहिराना तौर पर जनवादी प्रतीत होने से अत्यंत धोखे में डालने वाली है।* दरअसल यह उन कई तथाकथित बुद्धिजीवियों को भी भ्रमित करने में सक्षम होती है जो फासीवाद के मूल सारतत्व या चारित्रिक विशेषताओं को, जिनका उल्लेख ऊपर लिखित पैराग्राफ में किया गया है, उनका विश्लेषण करने की बजाय केवल इसके बाहरी रूप पर विचार करने की कोशिश करते हैं।

फासीवाद के बारे में पुरानी अवधारणा

फासीवाद की चारित्रिक विशिष्टताएं जैसे कि आर्थिक केन्द्रीकरण, राजसत्ता के हाथों में राजनीतिक शक्तियों का ज्यादा से ज्यादा संकेन्द्रण,

प्रशासनिक सख्ती, सांस्कृतिक तौर पर दिमाग को एक सांचे में ढालना और एकाधिकारी पूंजी के स्वार्थ व राजसत्ता के स्वार्थ में एकात्मीकरण–ये तमाम रुझान निसंदेह विश्व के तमाम पूंजीवादी देशों में कमोबेश मात्रा में दृष्टिगोचर होते हैं–एशिया या अफ्रीका के पिछड़े हुए देश भी इससे अछूते नहीं हैं। इस युग का यह ऐतिहासिक अनुभव फासीवाद के बारे में अब तक की प्रचलित अवधारणा को सुधारने की मांग करता है। दूसरे विश्वयुद्ध से पहले के जमाने में इटली या जर्मनी सरीखे दो विकसित पूंजीवादी देशों में, जिनके वाकई कोई उपनिवेश नहीं थे, फासीवाद कायम हो जाने से यह विचार घर कर गया था कि केवल शक्तिशाली पूंजीवादी देशों में ही फासीवाद पैदा हो सकता है या पनप सकता है। यह माना जाता था कि इस तरह की अत्यंत विकसित पूंजीवादी अर्थव्यवस्था जब बाजार के जबरदस्त अभाव से त्रस्त हो जाती है और बहुत ज्यादा सैन्य शक्ति हासिल कर लेती है, सिर्फ वहीं फासीवाद स्थापित होने का जरूरी उपादान पैदा होता है। लेकिन एशिया व अफ्रीका के आर्थिक व सैनिक तौर पर कमजोर कुछ पूंजीवादी देशों में फासीवाद के बढ़ते हुए रुझान से और ऐसे ही अन्य कुछ देशों में सैन्य और फासीवादी तानाशाही की स्थापना से फासीवाद के बारे में यह पुरानी प्रस्थापना आज गलत साबित हो जाती है।

फासीवाद, जनसाधारण और जन आंदोलन

पहले यह कहते आये हैं कि फासीवाद पूंजीपति वर्ग की नंगी तानाशाही है। इस परिभाषा से कुछ लोग यह निष्कर्ष निकाल लेते हैं कि फासीवाद का सत्ता में बने रहने का सिर्फ एक ही साधन है और वह है आम आदमी का बेरहमी से दमन-उत्पीड़न। प्रथम विश्वयुद्ध के समय और उसके बाद जब इटली और जर्मनी में विश्व में सबसे पहले फासीवाद अपना मनहूस सिर उठाने की कोशिश कर रहा था, उस शुरुआती दौर में यही अवधारणा वाकई प्रचलित थी। फासिस्टों को उस समय रक्त-पिपासु शिकारी कुत्तों जैसा दिखाया जाता था, जिन्हें जनता का क्रूरता से उत्पीड़न करने में ही आनंद मिलता था। लेकिन तथ्यों ने जब दूसरी ही बात साबित कर दी, तो अचेत जनसाधारण ने फासिस्टों के बारे में इस चरित्र-चित्रण को कम्युनिस्टों के झूठे बेतुके

प्रचार के रूप में देखा और इसके प्रति बड़े रोष में भरकर प्रतिक्रिया व्यक्त की। कम्युनिस्टों के खिलाफ इस जनाक्रोश व नफरत का फायदा फासिस्टों ने उठाया और कम्युनिस्टों का बिल्कुल सफाया कर देने के लिए सुनियोजित ढंग से आगे बढ़े।

फासीवाद हमेशा हर जगह एक तरफ तो जनता का दमन-उत्पीड़न और दूसरी तरफ समझाने-बुझाने या बरगलाने की दोहरी नीति अपनाता है। उसका मकसद सिर्फ बेरहमी से जनशक्ति को कुचलना ही नहीं होता, बल्कि उससे भी ज्यादा यह होता है कि कुशलता के साथ लोगों के मन जीत कर उन्हें स्वयंसेवक के रूप में अपने पक्ष में लाना जो स्वेच्छा से 'राष्ट्रीय पुनर्निर्माण' की फासीवादी योजनाओं और कार्यक्रमों को कार्यान्वित करने के इच्छुक हो उठें। सहयोगी जनशक्ति फासीवाद के पीछे रहे बगैर फासीवाद कायम नहीं हो सकता। इसलिए फासीवाद सामाजिक जनवादी (social democratic) योजनाएं अपनाता है, जनता को कुछ छोटी-मोटी आर्थिक रियायतें देता है, पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में अराजकता और बेरोजगारी आदि से पैदा होनेवाली जीवन की अनिश्चितता को नियंत्रित करने की कोशिश करता है। इस तरह से फासीवाद पूंजीपतियों के समग्र स्वार्थ की रक्षा करने की अपनी कोशिश में व्यक्ति पूंजीपतियों और उनकी अराजकतापूर्ण ढंग से उत्पादन करने की आजादी पर भी अकुंश लगाता है। संक्षेप में, एक फासीवादी राज्य तथाकथित पूंजीवादी कल्याणकारी राज्य का दर्जा हासिल कर लेता है। ये तथाकथित कल्याणकारी कदम उठाने के साथ ही साथ फासीवाद समाज से क्रांतिकारी चिंतन को जड़ से मिटा डालने के लिए लगातार तीव्र वैचारिक संघर्ष जारी रखता है। अचेत जनता जब ऐसा सोचने लगती है कि ये सब कार्य पूंजीवाद के खिलाफ और जनहित में हो रहे हैं और फासिस्टों की योजनाओं और कार्यक्रमों को कार्यान्वित करने के लिए उनका उत्साहपूर्वक जोरदार समर्थन करने लगती है, तब फासिस्ट लोग वैचारिक रूप से कम्युनिज्म को और शारीरिक रूप से कम्युनिस्टों को पूरी तरह नेस्तनाबूद कर देने के लिए अपना पूरा जोर लगा देते हैं। कम्युनिज्म के खिलाफ अपनी इस जेहाद में फासीवाद सोशल डेमोक्रेसी, उग्र राष्ट्रवाद और रहस्यवाद के एक विचित्र सम्मिश्रण के आधार पर बनी हुई इसकी अपनी फासीवादी संस्कृति की जोरदार वकालत करता है।

फासीवाद और संस्कृति

फासीवाद अध्यात्मवाद और विज्ञान का एक अजीबोगरीब सम्मिश्रण है। फासीवादी राज्य की आर्थिक और सैनिक शक्ति को बढ़ाते जाने की गर्ज सें विज्ञान के तकनीकी पहलुओं को अपनाने के साथ-साथ मौजूदा शोषणमूलक पूंजीवादी व्यवस्था और वर्तमान समाज की सहगामी बुराइयों से बचने के लिए सर्वरोगनाशक औषधि के रूप में हर तरह के अवैज्ञानिक धार्मिक जुनूनों और भाववादी बाजीगरी को राष्ट्रीय संस्कृति और विरासत के नाम पर परोसने की कोशिश जारी रहती है। इस तरह, फासीवादी संस्कृति वैज्ञानिक या सत्यनिष्ठ तत्वों के साथ मायावादी तत्वों का एक अजीबो-गरीब सम्मिश्रण है। इसमें प्रकृतिजगत की प्रक्रियाओं के बारे में इसके विचारों में वैज्ञानिक तत्व प्रबल होता है जबकि सामाजिक प्रक्रियाओं के बारे में मायावादी तत्व प्रबल होता है। इसके पीछे ध्येय है लोगों की मानसिक प्रक्रिया को कार्य-कारण संबंध के वैज्ञानिक रास्ते पर ले जाने की बजाय इसे मोड़कर अंधविश्वास, पूर्वाग्रह और रूढ़िवाद की अंधीगली में ले जाना और उससे अंतत: सामाजिक क्रिया के बारे में उदासीनता की भावना पैदा कर देना। अवैज्ञानिक, मायावादी सामाजिक दृष्टिकोण के साथ तालमेल रखते हुए फासीवाद सामाजिक विज्ञान के वर्ग-संघर्ष के नियम को समाज के विकास की चालक शक्ति के रूप में देखने से इनकार करता है और उसकी बजाय वर्ग-सामंजस्य और वर्ग-समन्वय का सिद्धांत प्रतिपादित करता है। इस तरह से फासीवादी संस्कृति में वर्गहीन या वर्गोपरि होने का चिंतन ही हावी होता है।

वर्ग संघर्ष के सिद्धांत और सर्वहारा अंतर्राष्ट्रीयतावाद के खिलाफ जनमानस में जहर भर देने के लिए उग्र राष्ट्रवाद (national jingoism) हमेशा पूंजीपति वर्ग के पास एक जबरदस्त हथियार होता है। फासिस्ट लोग अपना मकसद पूरा करने के लिए इसका भरपूर इस्तेमाल करते हैं। यह बात हमेशा जेहन में रखनी चाहिए कि पूंजीपति वर्ग द्वारा प्रचारित प्रतिक्रियावादी राष्ट्रवाद और जनसाधारण की देशभक्ति–ये दोनों एक ही चीज नहीं हैं। सारतत्व और चरित्र, दोनों में ही ये भिन्न हैं। जनसाधारण की देशभक्ति के साथ सर्वहारा अंतर्राष्ट्रीयतावाद का कोई विरोध-टकराव नहीं है, बल्कि अगर कोई सर्वहारा अंतर्राष्ट्रीयतावाद

की विचारधारा का समर्थक न हो, तो वह आज सही मायने में देश भक्त हो ही नहीं सकता। लेकिन प्रतिक्रियावादी बुर्जुआ राष्ट्रवाद सर्वहारा अंतर्राष्ट्रीयतावाद के आदर्श से बेमेल है। इसके अलावा, प्रतिक्रियावादी बुर्जुआ राष्ट्रवाद जहां बुर्जुआ अर्थात पूंजीवादी विश्व दृष्टिकोण का ही एक प्रतिबिम्बन है और जनता के देशप्रेम के भावावेग को बुर्जुआ वर्ग के स्वार्थ में इस्तेमाल करने के लिए शोषक वर्ग के हाथों में एक हथियार है, वहीं सर्वहारा अंतर्राष्ट्रीयतावाद की विचारधारा से संचालित देशप्रेम की अवधारणा पूंजीवादी-साम्राज्यवादी शोषणमूलक व्यवस्था के चंगुल से मुक्त होने के लिए शोषित-पीड़ित जनता के हाथों में एक ताकतवर हथियार है। प्रतिक्रियावादी बुर्जुआ राष्ट्रवाद सामाजिक प्रगति के रास्ते में रोड़ा बनी हुई पुरानी सड़ी-गली पूंजीवादी व्यवस्था को कायम रखने के स्वार्थी पूंजीवादी उद्देश्य से पैदा होता है, जबकि सर्वहारा अंतर्राष्ट्रीयतावाद की विचारधारा से सुदृढ़ हुआ देशप्रेम का उद्‌गम जनता के प्रति सच्चे प्रेम की भावना के स्रोत से होता है और सामाजिक प्रगति के रास्ते की सारी रुकावटों को चकनाचूर करने का लक्ष्य लिये होता है। इसलिए फासीवाद जनता के सच्चे देशप्रेम की भावनाओं को सहन नहीं कर पाता है।

फासिस्ट लोग वर्ग-समन्वय, सभी वर्गों की एकता, वर्ग से परे राष्ट्रीय स्वार्थ के विचार की वकालत करते हैं। वे उसे जनता के सामने ठोस रूप में प्रस्तुत करने की जरूरत महसूस करते हैं। इसलिए फासीवाद कभी-कभी अतिमानव के विचार का प्रचार करता है, वह अतिमानव राष्ट्रीय आकांक्षाओं व हितों का मूर्तरूप होता है। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है कि पूंजीवाद को अपने पैर जमाने के शुरुआती दौर में जिस अध्यात्मवाद और रहस्यवाद के खिलाफ संघर्ष छेड़ना पड़ा था, आज पतनशील पूंजीवाद प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उसी की तरफ फिर झुकता जा रहा है और उसके सहारे टिके रहने की कोशिश कर रहा है।

फासीवाद, सोशल डेमोक्रेसी और दक्षिणपंथी प्रतिक्रिया

अक्सर यह दलील दी जाती है कि दक्षिणपंथी प्रतिक्रिया से ही फासीवाद का खतरा आता है। अगर दक्षिणपंथी प्रतिक्रिया कहने का

मतलब सोशल डेमोक्रेसी को ही समझा जा रहा है, तो हमें इस प्रस्थापना में कोई गलती नहीं दिखाई देती। लेकिन यहां 'दक्षिणपंथी प्रतिक्रिया' शब्द इस मायने में इस्तेमाल नहीं किया गया है, इसे रूढ़िवादी, दकियानूसी (कंजरवेटिव) के मायने में इस्तेमाल किया जा रहा है। कम से कम हमारे देश में वर्तमान में इसी मायने में इस शब्द को समझा जाता है। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने दक्षिणपंथी प्रतिक्रिया की शक्ति वृद्धि और विकास में फासीवाद का खतरा देखा है, जिसका प्रतिनिधित्व इनके मतानुसार स्वतंत्र पार्टी*, जनसंघ** आदि पार्टियां कर रही हैं। ये पार्टियां दक्षिणपंथी सोशल डेमोक्रेटिक पार्टियां नहीं, बल्कि रूढ़िवादी पार्टियां हैं। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के मतानुसार रूढ़िवाद से ही फासीवाद पैदा और विकसित होता है। हमारे मतानुसार यह बिल्कुल गलत है।

पहले ही व्याख्या की जा चुकी है कि फासीवाद की उत्पत्ति और विकास के लिए जन समर्थन की जरूरत होती है। जनता के चिंतन-मनन में अगर जगह न बना पायें और उनके भावावेगों को जीत न सकें, तो जन समर्थन मिल पाना असंभव हो जाता है। जनता को अपने पक्ष में लाने के लिए रूढ़िवाद के पास देने को कुछ भी नहीं है। समाज के बहुनिन्दित वर्ग या उसके एक हिस्से के गये-गुजरे, पुराने (Out-moded) दृष्टिकोण, उनके निहित स्वार्थों व पुराने सुविधाभोगी पक्षों की इनके द्वारा की जाने वाली खुली और मुंहफट वकालत देखकर मेहनतकश लोग इनसे नफरत करते हैं। जनता के दिलो-दिमाग को जीतने के लिए और उसका स्वेच्छिक समर्थन पाने के लिए लोगों के प्रति समाजवादी वायदोंवाले तुलनात्मक रूप से एक प्रगतिशील कार्यक्रम और देशप्रेम के खोखले नारों की जरूरत होती है, जो सोशल डेमोक्रेसी देती है। वास्तव में, रूढ़िवाद नहीं, बल्कि सोशल डेमोक्रेसी ही है जिसमें फासीवाद का संभावित खतरा निहित रहता है।

इतिहास के आधार पर अगर कहा जाये, तो दक्षिणपंथी प्रतिक्रिया अर्थात रूढ़िवादी शक्ति ने कभी कहीं फासीवाद पैदा नहीं किया।

---

* एक संकीर्णतावादी पार्टी जिसका वर्तमान में कोई अस्तित्व नहीं है।

** एक कट्टरपंथी हिन्दुत्ववादी पार्टी जो वर्तमान में भारतीय जनता पार्टी के रूप में मौजूद है।

सोशल डेमोक्रेसी ही थी जिसने फासीवाद के आविर्भाव की जमीन तैयार की और उसे पनपाया, पाला-पोसा भी। सोशल डेमोक्रेसी के पंथ से ही फासीवादी दर्शन का जन्म हुआ है जैसे कि इटली, जर्मनी, आस्ट्रिया आदि देशों का ही मामला ले लीजिए। इन सभी देशों में प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान और उसके बाद के दौर में साम्राज्यवादी युद्ध और पूंजीवादी राज्य के हित में अपने-अपने देश की जनता के देश प्रेम और समाजवादी भावनाओं का इस्तेमाल करके सोशल डेमोक्रेटिक पार्टियों द्वारा उपदेशित 'सामाजिक देशप्रेम' (Social Patriotism) से ही फासीवाद की उत्पत्ति हुई थी। फासीवादी आंदोलन के जन्मदाता सभी सोशल डेमोक्रेटिक नेता थे, उन सभी ने सोशल डेमोक्रेटिक पार्टियों के छोड़ दिये गये बीड़े को उठा लिया था और सोशल डेमोक्रेटिक कार्रवाइयों को अपने कार्यक्रम में शामिल कर लिया था। मिसाल के तौर पर इटली का ही मामला ले लीजिए। इटली में फासीवादी दल के संस्थापक मुसोलिनी सिंडिकलिस्ट* सोच के एक अगुआ समाजवादी नेता थे। उसके कार्यक्रम में सिंडिकलिज्म के करीब-करीब सभी प्रमुख सूत्र शामिल थे। जर्मनी और आस्ट्रिया की फासिस्ट पार्टियां सिर्फ नाममात्र के लिए समाजवादी थीं। जर्मनी में इसका नाम था 'राष्ट्रीय समाजवादी पार्टी' और आस्ट्रियाई पार्टी का नाम था 'इसाई समाजवादी पार्टी'। ऐसी और भी बहुत-सी मिसाले दी जा सकती हैं, लेकिन यहां उनकी कोई जरूरत नहीं है। फिर यह भी देखा जा सकता है कि फासीवाद खुद के उभरने के लिए राष्ट्रवाद, वर्ग-समन्वय और सभी वर्गों की एकता की तथाकथित जरूरत का सहारा लेता है, साथ-साथ अंतर्राष्ट्रीयतावादी समाजवाद, खासकर साम्यवाद के प्रति बैरभाव का सहारा लेता है। इन सभी बिन्दुओं पर सोशल डेमोक्रेसी के साथ फासीवाद का लगभग कोई फर्क नहीं है। फासीवाद के उदय से पहले सोशल डेमोक्रेसी द्वारा ही इन विचारों का प्रचार-प्रसार किया गया था और उसी के द्वारा फासीवाद की जमीन तैयार की गयी थी। सारांश में, यह कहा जा सकता है कि सोशल डेमोक्रेसी के गर्भ से ही फासीवाद पैदा हुआ और पला-बढ़ा। द्वितीय विश्वयुद्ध से पहले के दौर में अगर

* सिंडिकलिस्ट लोग कारखानों और उत्पादन के साधनों को मजदूरों के हाथों में दे देने के समर्थक थे।

यह बात सही थी, तो अब तो यह हजारों गुना सही है। क्योंकि साम्राज्यवाद और सर्वहारा क्रांति के वर्तमान युग में सोशल डेमोक्रेसी ही पूंजीवाद का अंतिम अवलम्ब है। हमने यह भी दिखाया है कि तमाम पूंजीवादी देशों में फासीवाद अब एक आम दस्तूर हो गया है। ये दोनों ही आपस में घुल-मिल गये हैं। सोशल डेमोक्रेटिक योजनाओं और कार्यक्रमों के जरिये फासीवाद ने अपनी जड़ें गहरी जमा ली हैं।

आधार और ऊपरी ढांचा

अत: यह साफ जाहिर है कि विकसित या अविकसित, छोटे-बड़े सभी पूंजीवादी देशों में फासीवाद तेजी से फैलता जा रहा है। यहां तक कि पुराने और परम्परागत संसदीय जनतांत्रिक देश भी इससे अछूते नहीं हैं। जहां पूंजीपति वर्ग संसदीय व्यवस्था को पहले-पहल अस्तित्व में लाया था, वहां भी उसके लिए संसद अपनी उपयोगिता तेजी से खोती जा रही है। लेकिन यह तब्दीली क्यों आयी है? इसके बारे में स्पष्ट विचार रखने के लिए समाज की अग्रगति के प्रत्येक विशेष चरण में समाज के आधार और ऊपरी ढांचे के बीच आपसी रिश्ते को समझना और उसके संदर्भ में, संसद की उत्पत्ति और विकास-वृद्धि के इतिहास की भी बारीकी से छानबीन करना जरूरी है।

सामाजिक विज्ञान के सभी छात्र जानते हैं कि सामाजिक विकास के किसी भी एक चरण में समाज का आधार उस समाज का आर्थिक ढांचा होता है और इस तरह के हर आधार का ही उससे मेल खाता हुआ एक ऊपरी ढांचा होता है। राजनैतिक, प्रशासनिक, कानूनी-वैधानिक, धार्मिक, कलात्मक, दार्शनिक और सांस्कृतिक सोच-विचारों और उनसे मेल खाती हुई सस्थाओं व रीति-नीतियों को मिलाकर ही समाज का ऊपरी ढांचा होता है। यह ऊपरी ढांचा एक आधार पर खड़ा होता है। यह उस आधार की नियत रूप में सेवा करता है, इसे रूपाकार लेने और सुदृढ़ होने में यह सक्रिय रूप से मदद करता है और पुराने मरणासन्न आधार व उसके ऊपरी ढांचे, दोनों के अवशेषों को पूरी तरह खत्म करने की कोशिश करता है। अब पूंजीवादी अर्थव्यवस्था जो पूंजीवादी समाज का मूल आधार है, वह अधिकतम मुनाफा कमाने के बुनियादी नियम से संचालित होती है। इसलिए, पूंजीवादी समाज का

ऊपरी ढांचा अधिकतम मुनाफा कमाने के नियम के सबसे कारगर संचालन को सुनिश्चित करने पर लक्षित होता है। लेकिन इस नियम के सुचारू संचालन के लिए जरूरी परिस्थितियां हर समय एक जैसी नहीं रहती हैं। परिस्थितियों के बदल जाने के साथ सामंजस्य रखते हुए पूंजीपति वर्ग को ऊपरी ढांचे, उसके आर्थिक संगठन, राजनैतिक संस्थान और प्रशासनिक तंत्र आदि के रूप और रीति-नीति को भी बदलना जरूरी हो जाता है ताकि बदली हुई परिस्थितियों में अधिकतम मुनाफा कमाने के मूल नियम के सबसे ज्यादा कारगर संचालन को सुनिश्चित किया जा सके। यह कहने की कोई खास जरूरत नहीं है कि पूंजीवाद में ऊपरी ढांचे में चाहे जो भी परिवर्तन हो जाये, लेकिन उससे इसका बुनियादी चरित्र परिवर्तित नहीं होता है क्योंकि परिवर्तनों के बावजूद, ऊपरी ढांचा अपने आधार के साथ सामंजस्य रखते हुए ही कायम रहता है और उसकी सेवा करता है, जो कि पूंजीवादी समाज में शुरू से लेकर अंत तक मूलत: वैसा ही रहता है और उसके अधिकतम मुनाफा कमाने के बुनियादी नियम से ही संचालित होता है।

संसद ऐतिहासिक परिस्थितिबद्ध रूप से एक बुर्जुआ यानी पूंजीवादी राजनैतिक संस्था है, पूंजीवादी समाज के आधार पर खड़ा एक राजनैतिक ऊपरी ढांचा है। पूंजीवादी समाज के आगमन से पहले यह अस्तित्व में ही नहीं थी। फिर पूंजीवादी समाज की जगह समाजवादी समाज कायम हो जाने के बाद भी इसका अस्तित्व नहीं रहेगा। इसकी एक निश्चित शुरुआत है और एक निश्चित अंत है। फिर शुरुआत और अंत के बीच की स्थिति में इसकी एक निश्चित ऐतिहासिक भूमिका है। इतिहास के हर छात्र को मालूम है कि राजतंत्र-सामंतवाद (absolutism) का पतन हो जाने से संसद का आविर्भाव हुआ था। पूंजीपति वर्ग, जिसने उस समय निरंकुश राजतंत्र (absolutism) के खिलाफ एक क्रांतिकारी भूमिका अदा किया था, यह व्यक्ति-स्वतंत्रता, समानता और भाईचारे का परचम फहराने वाला था। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के विकास के लिए उस समय यह बुनियादी जरूरत थी कि अमन-चैन और निर्बाध प्रतिस्पर्द्धा की स्थिति कायम रखी जाये। उस दौरान संसद एक आदर्श राजनैतिक संस्था थी, जो उस समय पूंजीपति वर्ग की इन सब जरूरतों को पूरा

कर सकती थी। एकाधिकारी पूंजीवाद के विकास के साथ-साथ निर्बाध प्रतिस्पर्द्धा की जगह एकाधिकार की स्थापना हुई और अमन-चैन की जगह सैन्यवाद आया। इसलिए, संसद जो इस शब्द के अतीत के बुर्जुआ मायनों के अनुसार व्यक्ति स्वतंत्रता और निर्बाध प्रतिस्पर्द्धा का मंच थी, वह वर्तमान समय के एकाधिकारी पूंजीपतियों के हाथों में पड़कर धीरे-धीरे अपनी समयोपयोगिता खोती जा रही है। नतीजतन, संसद पूंजीपतियों के लिए बहुत तेजी से अपनी उपयोगिता खोती जा रही है और फासीवाद विभिन्न रूपों मे पूंजीवादी देशों के सत्तात्मक ढांचे और प्रशासन तंत्र में स्पष्ट प्रकट होता जा रहा है।

शांतिपूर्ण क्रांति

अलबत्ता अभी यहां जिस मुद्दे पर बातचीत हो रही है, उससे सीधे जुड़ा हुआ न होने पर भी इस प्रसंग में हम एक और विषय को भी चर्चा करने लायक समझते हैं। कई विख्यात कम्युनिस्ट नेताओं के भाषणों और लेखों में बार-बार इस विषय का जिक्र होने से इसका महत्व बढ़ गया है। यह विषय वर्तमान बदली हुई अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में कुछ पूंजीवादी देशों में शांतिपूर्ण ढंग से समाजवादी क्रांति सम्पन्न करने की संभावना के संबंध में है। कॉमरेड ख्रुश्चेव* के मतानुसार वर्तमान समय की अनुकूल अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में यह संभावना वास्तविक है और ऐसी स्थिति भी मौजूद है। इस बिन्दु का खुलासा करते हुए वे कहते हैं कि ''जनता के बहुमत पर भरोसा करके और पूंजीपतियों व जमींदारों के साथ समझौता करने की नीति को न छोड़ सकने वाले सभी अवसरवादी तत्वों को दृढ़ता के साथ रुखाई के साथ करारा जवाब देते हुए मजदूर वर्ग प्रतिक्रियावादी व जनविरोधी ताकतों को शिकस्त देने में कामयाब हो सकता है, *संसद में स्पष्ट बहुमत हासिल कर सकता है, संसद को पूंजीपति वर्ग के स्वार्थ में काम करने वाले यंत्र की बजाय मेहनतकश जनता के हित में काम करने वाले यंत्र में रूपान्तरित कर सकता है*, संसद के बाहर भी जन आंदोलन खड़ा कर सकता है, प्रतिक्रियावादी ताकतों के प्रतिरोध को चकनाचूर कर सकता है और शांतिपूर्ण ढंग से समाजवादी क्रांति सम्पन्न करने के

* जो बाद में वर्गद्रोही हो गया था।

जरूरी हालात को पैदा कर सकता है।'' अपने पूर्ववर्ती भाषणों में, खासकर सोवियत यूनियन की कम्युनिस्ट पार्टी की बीसवीं पार्टी कांग्रेस की अपनी रिपोर्ट में उन्होंने कहा था कि ''इस प्रसंग में इस विषय पर सवाल उठता है कि संसदीय तरीके से समाजवाद में रूपान्तरित हो जाना सम्भव है कि नहीं। रूसी बोल्शेविक, जिन्होंने पहले पहल यह रूपान्तरण कार्यान्वित करने में कामयाबी हासिल की, उनके पास और दूसरा कोई रास्ता नहीं था।....हालांकि, उसके बाद से लेकर अब तक ऐतिहासिक परिस्थितियों में आमूलचूल परिवर्तन आ गया है, जिसने इस विषय पर नया रुख अख्तियार करना सम्भव कर दिया है।... ऐसी स्थिति में, मेहनतकश किसानों, बुद्धिजीवियों और सभी देशप्रेमी ताकतों को अपने पक्ष में लामबंद करके और पूंजीपतियों व जमींदारों के साथ समझौता करने की नीति को जो लोग छोड़ने में असमर्थ हैं, उन अवसरवादी तत्वों को दृढ़ता के साथ ठुकराते हुए मजदूर वर्ग जनहित की विरोधी प्रतिक्रियावादी ताकतों को हराने, *संसद में स्पष्ट बहुमत हासिल करने और संसद को पूंजीवादी लोकतंत्र के अंग की बजाय सही मायने में जन आकांक्षा पूर्ति के औजार में तब्दील करने की स्थिति में है।*'' इसलिए यह बिल्कुल साफ जाहिर है कि सीपीएसयू के वर्तमान नेतागण विश्वास करते हैं कि अब संसदीय रास्ते से पूंजीवाद से समाजवाद में रूपान्तरण सम्भव है। हालांकि, सशस्त्र क्रांति के नियम को उन्होंने सम्पूर्ण रूप से खारिज नहीं किया, फिर भी वे आज की बदली हुई परिस्थिति में पूंजीवादी देशों में शांतिपूर्ण रास्ते से समाजवादी क्रांति करने की सम्भावना पर सामान्य नियम के तौर पर ज्यादा ही जोर दे रहे हैं।

हमारे ख़याल से पूंजीवादी देशों में शांतिपूर्ण रास्ते से समाजवादी क्रांति सम्पन्न करने की यह प्रस्थापना एक भ्रम की वजह से है। *युद्ध के विरोध में शांति की जबरदस्त शक्तिशाली ताकतों के मुकाबले विश्व युद्ध छेड़ने में विश्व साम्राज्यवाद की तुलनात्मक कमजोरी को और किसी देश विशेष में मजदूर वर्ग व अन्य तबकों के शोषित-पीड़ित लोगों के क्रांतिकारी संघर्षों को कुचलने के लिए उस देश के शासक पूंजीपति वर्ग व उसकी राजसत्ता की ताकत को ख्रुश्चेव व अन्य नेताओं ने गड्डमड्ड कर डाला है और भ्रमित हो गये हैं।* ये नेतागण इस गंभीर वास्तविकता पर गौर करने में नाकाम रहे हैं कि युद्ध की

ताकतों की तुलना में शांति की ताकतों की श्रेष्ठता और शांति की ताकतों के द्वारा हासिल की गयी कई भव्य विजयों के बावजूद, विश्व परिस्थिति में ऐसी कोई तब्दीली नहीं आयी है कि जिसकी वजह से समाजवादी देशों की ताकत को मान्यता देने पर भी पूंजीपति वर्ग अपने-अपने देश में क्रांतिकारी संघर्षों को बलपूर्वक कुलचने से डरते हों। इतिहास में एक भी ऐसी घटना नहीं है जो हमारे उपरोक्त कथन को गलत साबित करती हो। बल्कि पूंजीवादी देशों में जनता की बेहद मामूली आर्थिक व जनतांत्रिक मांगों को लेकर चल रहे आंदोलन को भी राजसत्ता की सारी ताकतों को लगा करके बेरहमी से ऐन फासीवादी ढंग से कुचला जा रहा है। यहां तक कि ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरिका जैसे संसदीय जनतंत्र की परम्परा वाले देशों में भी लोगों, मजदूरों को उनके द्वारा पहले से हासिल किये गये छोटे-मोटे जनवादी अधिकारों से भी बेहिचक वंचित किया जा रहा है, उनके संसदीय अधिकारों व सुविधाओं को भी सुनियोजित ढंग से धीरे-धीरे छीना जा रहा है। फासीवाद अब सभी पूंजीवादी देशों में एक आम दस्तूर बन चुका है। यहां तक कि जिन देशों में जन क्रांति सफल हो चुकी है, वहां भी साम्राज्यवादी आज प्रतिक्रांति को उकसाने और संगठित करने की जुर्रत कर रहे हैं। इस हकीकत के रूबरू होने पर भी क्या यह भ्रम पालना सही है कि शांतिपूर्ण ढंग से पूंजीवाद से समाजवाद में रूपान्तरण संभव है? इसका जवाब है नहीं, कतई नहीं।

यह बात सही है कि मार्क्सवाद-लेनिनवाद शांतिपूर्ण ढंग से पूंजीवाद से समाजवाद कायम करने की संभावना को पूरी तरह खारिज नहीं करता है। सन 1872 में 'इन्टरनेशनल वर्किंग मेन्स एसोसिएशन' की हेग कांग्रेस के बाद मार्क्स ने खुद ही इस संभावना को मानकर एलान किया था : ''हम जानते हैं कि विभिन्न देशों की संस्थाओं, रीति-रिवाजों और परम्पराओं की खास कद्र करनी चाहिए। इस बात से हम इनकार नहीं कर सकते कि अमेरिका और इंग्लैण्ड ऐसे कुछ थोड़े से देश हैं, जिनमें मजदूर वर्ग शांति पूर्ण ढंग से अपने लक्ष्य को पूरा करने की उम्मीद कर सकता है। अगर मुझ से गलती नहीं हो रही है, तो मैं कहूंगा कि हालैण्ड भी इसी श्रेणी में आता है।'' पहली बात यह है कि मार्क्स ने शांतिपूर्ण ढंग से क्रांति के सिद्धांत को सामान्य नियम

के रूप में प्रस्तुत नहीं किया था, बल्कि उन्होंने अमेरिका, इंग्लैण्ड और हालैण्ड के मामले में ही इस तरह की एक संभावना को माना था। दूसरी बात यह है कि उपरोक्त इन तीनों देशों में उन्नीसवीं सदी के सातवें दशक में, जब एकाधिकारी पूंजीवाद अर्थात साम्राज्यवाद अस्तित्व में नहीं आया था और इन देशों ने अपने विकास की विशेष परिस्थितियों की वजह से सैन्यवाद और अफसरशाही को उस तरह से तैयार नहीं किया था, तब उनमें शांतिपूर्ण ढंग से समाजवाद कायम होने की संभावना स्वीकार करने के पीछे मार्क्स के पास तर्कसंगत कारण था। साम्राज्यवाद के युग में बदली हुई परिस्थिति की वजह से मार्क्स की यह टिप्पणी अपनी कार्यकारिता खो चुकी है। जिस ठोस स्थिति में मार्क्स ने यह बात कही थी, उस पर ध्यान न देकर, मार्क्स को उद्धृत करने की आदत को लेनिन ने अपनी किताब *'सर्वहारा क्रांति और गद्दार काउत्स्की'* में कड़े शब्दों में दुत्कारा है। लेनिन ने कहा है : '' 'इतिहासकार' काउत्स्की इतनी निर्लज्जता से इतिहास में गलत बयानी करते हैं कि वे इस बुनियादी बात को भूल जाते हैं कि इजारेदारी से पहले के पूंजीवाद में–जो उन्नीसवीं शताब्दी के ठीक सातवें दशक में अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया था–अपनी आधारभूत आर्थिक प्रवृत्तियों के कारण (जो सबसे ठेठ रूप में इंग्लैण्ड तथा अमेरिका में व्यक्त हुई थीं) शांति और स्वतंत्रता के लिए सापेक्षत: अधिकाधिक लगाव की विशेषता पायी जाती थी। दूसरी ओर, साम्राज्यवाद अर्थात इजारेदार पूंजीवाद, जो बीसवीं शताब्दी में ही जाकर पूरी तरह परिपक्व हुआ, अपनी बुनियादी आर्थिक विशेषताओं के कारण ही, शांति तथा स्वतंत्रता के प्रति कम से कम लगाव रह जाने से सैन्यवाद का विश्वव्यापी तथा सार्वजनिन फैलाव करके विशेष रूप में मौजूद है। इस बात पर विचार करते समय कि कोई शांतिपूर्ण अथवा सशस्त्र क्रांति किस हद तक लाक्षणिक या संभव होती है, उक्त बात 'न देख पाने' का मायने है पूंजीपति वर्ग के एक बहुत ही घटिया चाटूकार के स्तर पर उतर आना।''

यह बात सही है कि लेनिनोत्तर काल में हालात में काफी तब्दीलियां आयी हैं, जिनके बारे में ख्रुश्चेव ने परोक्ष रूप से इशारा किया है। इसमें कोई शक नहीं कि वे तब्दीलियां बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। लेकिन क्या इन तब्दीलियों ने साम्राज्यवाद को सैन्यवाद से

लगावहीन कर दिया है या सन् 1918 की तुलना में जिस समय लेनिन ने यह लिखा था क्या आज सैन्यवाद से उसका लगाव और भी ज्यादा मजबूत नहीं हुआ है? क्या साम्राज्यवादी पहले की तुलना में शांतिपूर्ण हो गये हैं? क्या मजदूर वर्ग और दूसरे तबकों के शोषित-पीड़ित लोगों द्वारा छेड़े जा रहे क्रांतिकारी संघर्षों के प्रति साम्राज्यवादियों का रवैया और भी ज्यादा फासीवादी नहीं हो गया है? क्या सत्ता के ढांचे में अफसरशाही खत्म हो गयी है या इसने पहले की तुलना में और भी ज्यादा गहरी जड़ें जमा ली हैं? शांतिपूर्ण ढंग से क्रांति करना कितनी दूर तक व्यवहार्य है—इसको लेकर चर्चा करने में ये निहायत जरूरी सवाल हैं। इन सवालों का सही-सही जवाब इस बात को स्पष्ट कर देगा है कि कोई भी प्रतिरोध किये बगैर आज के जमाने में साम्राज्यवादी-पूंजीपति स्वेच्छा से मजदूर वर्ग को सत्ता सौंप देंगे—यह सोच कितनी बेतुकी और अवास्तविक है।

बदली हुई अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति में अब पूंजीवादी देशों में शांतिपूर्ण ढंग से समाजवादी क्रांति संभव है या नहीं—यह आज एक विवादित विषय है। हम इसे अभी संभव नहीं मानते हैं। हमारे ख्याल से सशस्त्र क्रांति का नियम ही अभी तक पूंजीवादी देशों में क्रांति का सामान्य नियम है। पहले भी हमने अपनी राय के पक्ष में तर्क दिये हैं, इसके कारण बताये हैं। यहां तक कि अगर यह मान भी लिया जाये कि शांतिपूर्ण ढंग से अब समाजवादी क्रांति करना संभव है, इसके बावजूद, *''संसद में स्पष्ट बहुमत हासिल करके और संसद को पूंजीवादी लोकतंत्र के एक अंग से जन आकांक्षा पूर्ति के औजार में तब्दील करके'' क्रांति की जा सकती है—यह जो बात ख्रुश्चेव ने कही है और हमने जिसे पहले उद्धृत किया है—ऐसी सोच गैर-मार्क्सवादी सोच है। मार्क्सवादी-लेनिनवादी के लिए 'किसी एक पूंजीवादी देश में शांतिपूर्ण ढंग से समाजवादी क्रांति करने' का मायने होता है शांतिपूर्ण प्रक्रिया से मजदूर वर्ग के द्वारा राजसत्ता पर कब्जा कर लिया जाये जिसमें पूंजीपति वर्ग कुछ भी रुकावट न डाले और शांतिपूर्ण प्रकिया से मजदूर वर्ग के द्वारा पूंजीवादी राजसत्ता को ध्वस्त कर दिया जाये और उसे हटाकर उसकी जगह नयी किस्म की राजसत्ता कायम कर दी जाये। इसका मतलब पूंजीवादी राजसत्ता को शांतिपूर्ण ढंग से सर्वहारा वर्ग की*

राजसत्ता में तब्दील कर देना हरगिज नहीं है जो कभी सम्भव नहीं है। शांतिपूर्ण ढंग से समाजवादी क्रांति करने का मतलब यह भी होता है कि शांतिपूर्ण ढंग से संसद को भंग करके उसकी जगह मजदूर वर्ग की जनवादी राजनैतिक संस्था कायम कर देना, न कि पूंजीवादी राजनैतिक संस्था संसद को किसी भी मायने में शांतिपूर्ण ढंग से रूपान्तरित करके जन आकांक्षा पूर्ति के औजार में तब्दील कर देना जो कभी संभव नहीं है। इन सभी नेताओं ने इस विषय को समझने में गलती की है कि पूंजीवादी समाज का ऊपरी ढांचा कभी समाजवादी समाज के ऊपरी ढांचे के रूप में काम नहीं कर सकता है। पूंजीवादी समाज के आधार के रूप में जो पूंजीवादी अर्थव्यवस्था है और उसका राजनैतिक ऊपरी ढांचा यह जो संसद है, यह समाजवादी समाज में उसके आधार अर्थात समाजवादी अर्थव्यवस्था की मदद नहीं कर सकती है, सिर्फ इतना ही नहीं, बल्कि इस संसद को विलुप्त करना होगा। समाजवादी समाज में, उसके आधार अर्थात समाजवादी अर्थव्यवस्था के साथ सामंजस्य स्थापित करने वाला एक भिन्न किस्म का ऊपरी ढांचा खड़ा करना होगा जो अपने आधार को रूपाकार लेने और सुदृढ़ होने में मदद करेगा और पुराने मरणासन्न आधार व उसके ऊपरी ढांचे, दोनों के ही अवशेषों के विलोपन के लिए प्रयास करेगा। अगर ''पूंजीवादी लोकतंत्र के अंग, संसद को सही मायने में जन आकांक्षा पूर्ति के औजार में तब्दील करना'' संभव है, तब तो उसी तरह पूंजीवादी राजसत्ता को भी सर्वहारा वर्ग की राजसत्ता में रूपांतरित किया जा सकता है और इसी तरह पूंजीपति वर्ग की पार्टी को सर्वहारा वर्ग की पार्टी में रूपान्तरित करना वगैरह भी संभव होता। इसलिए इस तरह की सोच कतई मार्क्सवाद-लेनिनवाद नहीं है। यह मार्क्सवाद-लेनिनवाद की हद दर्जे की अपव्याख्या है।

राष्ट्रीय स्थिति

इस अंतर्राष्ट्रीय स्थिति के परिप्रेक्ष्य में ही हमें राष्ट्रीय स्थिति पर विचार करना होगा। यह सभी को मालूम है कि भारत ने कैसे राष्ट्रीय आजादी हासिल की। द्वितीय विश्वयुद्ध से पहले के जमाने में ब्रिटिश साम्राज्यवाद आर्थिक, राजनैतिक और सामरिक क्षेत्रों में जो प्रभुत्व

रखता था, द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान देखा गया कि उसका वह प्रभुत्व खत्म हो गया। उसकी अर्थव्यवस्था वाकई ध्वस्त होने के कगार पर पहुंच गयी थी जिसने उनके अपने देश की जनता को जबरदस्त चोट पहुंचायी। नतीजतन, वे लोग बेचैन हो गये थे। उपनिवेशों में भी राष्ट्रीय आजादी आंदोलन की जबरदस्त लहर चल रही थी। भारत की देशभक्त जनता पूर्ण राष्ट्रीय आजादी के लिए साम्राज्यवाद के खिलाफ जोरदार संघर्ष कर रही थी। कांग्रेस की तरफ से किये गये किसी आह्वान के बगैर, खुद जनता के द्वारा ही शुरू किया गया यह संघर्ष धीरे-धीरे राष्ट्रीय जनवादी क्रांति का रूप लेता जा रहा था। साम्राज्यवाद और सर्वहारा क्रांति के इस युग में यह संघर्ष विश्व सर्वहारा क्रांति का अभिन्न अंग होने के कारण सिर्फ साम्राज्यवादी शासकों को सत्ता से उखाड़ फेंकना ही इसका लक्ष्य नहीं था, बल्कि इस राष्ट्रीय जनवादी क्रांति को उसके असली मुकाम अर्थात समाजवादी क्रांति की ओर ले जाने के लक्ष्य से भी जुड़ा हुआ था। इसलिए, युद्ध के बाद की बदली हुई अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति में ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने भारत में अपनी एक ऐसी सहयोगी शक्ति ढूंढ़ निकालने की जरूरत महसूस की जिसके हाथों में वे बेहिचक सत्ता सौंप सकें, जिसके साथ सहयोग के आधार पर वे अपने साम्राज्यवादी आर्थिक हितों को बरकरार रख सकें और इस प्रकार राष्ट्रीय आजादी आंदोलन को व्यर्थ कर दे सकें। साम्राज्यवाद के खिलाफ सुधारवादी विरोध की भूमिका निभा रहा भारत का राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग भी इस आजादी आंदोलन से ऐसे भयभीत था जैसे कोई मौत से डरता है, क्योंकि यह धीरे-धीरे उसके नियंत्रण से बाहर होता जा रहा था और क्रांतिकारी रूप लेता जा रहा था। इसलिए, इसने साम्राज्यवादियों के साथ दोस्ताना ढंग से येन-केन-प्रकारेण किसी तरह अपना झगड़ा सुलझाने, सत्ता हथियाने और आजादी की लड़ाई खत्म करने की जरूरत समझी। इसलिए, ब्रिटिश साम्राज्यवाद और भारतीय राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग, दोनों ही अपने-अपने स्वार्थ के लिए एक समझौते पर आये। ब्रिटिश साम्राज्यवादी भारत में अपने आर्थिक हितों को कायम रखने में सक्षम हुए जबकि भारतीय पूंजीपति वर्ग सत्ता हथियाने में सक्षम हुआ। हालांकि यह सब देश के बंटवारे की कीमत पर हुआ।

युद्धोत्तर काल में अन्य जिन-जिन देशों ने राष्ट्रीय आजादी हासिल की थी, उनकी तुलना में भारत में पूंजीवादी विकास सर्वोच्च स्तर पर पहुंच गया था। द्वितीय विश्व युद्ध ने भारत के पूंजीपति वर्ग की ताकत बढ़ा दी थी। सत्ता हथियाने के बाद उनकी एकमात्र चिंता यही थी कि कैसे कम से कम समय में वे अपनी सापेक्ष कमी-खामियों, कमजोरियों से उबरें और भारत को एक ताकतवर पूंजीवादी देश के रूप में विकसित कर दें। साम्राज्यवाद के साथ एक नजदीकी रिश्ता होने के बावजूद (1960 में आजादी के 12 साल पूरे हो जाने पर भी भारत में विदेशी निजी वित्तीय पूंजी निवेश 255.8 करोड़ रुपये से बढ़कर 655 करोड़ रुपये तक पहुंच गया था) भारत की जनता की साम्राज्यवाद-विरोधी परम्परा को देखते हुए भारतीय पूंजीपति वर्ग एकदम साम्राज्यवाद-परस्त पोजीशन भी नहीं ले सकता था। दूसरी बात यह है कि उन्हें यह अहसास हो गया था कि अगर वे ताकतवर साम्राज्यवादी खेमे के दामन को पूरी तरह थाम लेंगे, तो औद्योगिक विकास के क्षेत्र में एक सदी के पिछड़ेपन को पार करके विकसित पूंजीवादी देशों की बराबरी पर आ जाने और भारत को एक शक्तिशाली पूंजीवादी देश के रूप में विकसित करने के लिए साम्राज्यवादियों से बहुत थोड़ी-सी ही मदद मिल पायेगी। इसलिए, उपरोक्त मुहिम के मद्देनजर भारत का पूंजीपति वर्ग दोनों खेमों में से हरेक से ज्यादा से ज्यादा मदद हासिल करने के लिए एक दिखावटी तटस्थता बनाये रखते हुए वर्तमान विश्व की सामाजिक ताकतों के संतुलन का भरपूर इस्तेमाल कर रहा है। तीसरी बात यह है कि आजादी के पन्द्रह साल के अर्से के दौरान भारत जितने भी सीमित दायरे में औद्योगिक विकास कर पाने में सक्षम हुआ है, उसमें भी भारत के पूंजीपति वर्ग को बाजार के अभाव की समस्या से रूबरू होना पड़ रहा है। बेरोजगारी, अर्द्ध-बेरोजगारी, लगातार टैक्सों के बोझ में बढ़ोतरी, जीवनयापन के खर्च में बढ़ोतरी, वास्तविक आमदनी में आयी कमी, आमूलचूल भूमि सुधारों को लागू करने में अवहेलना आदि की वजह से भारत के लोगों की क्रय क्षमता बहुत ही कम होने से देश का अन्दरूनी बाजार अत्यधिक संकुचित हो गया है। इसलिए, भारतीय पूंजीपति वर्ग विदेशों में बाजार, खासकर नव स्वतंत्रता प्राप्त पूर्व औपनिवेशिक देशों में

बाजार पाने की फिराक में है। लेकिन वह बाजार भी खुला मैदान नहीं है, बल्कि शक्तिशाली साम्राज्यवादी पश्चिमी देश और जापान वहां पहले से ही मौजूद हैं। सापेक्षत: कम विकसित आर्थिक ताकत के बल पर अकेले भारतीय पूंजीपतियों द्वारा उन सभी शक्तिशाली साम्राज्यवादी देशों को वहां से बाहर खदेड़कर उस बाजार पर कब्जा कर लेना लगभग असंभव ही है। भारतीय पूंजीपति वर्ग को यह मालूम है कि नव स्वतंत्रता प्राप्त देशों की जनता उपरोक्त साम्राज्यवादी ताकतों के निर्मम शोषण-उत्पीड़न की भुक्तभोगी है और उसमें इनके प्रति जबरदस्त नफरत भी भरी हुई है। शक्तिशाली पूंजीवादी देशों के खिलाफ इस मानसिकता को और ज्यादा बढ़ाने और अंतत: दक्षिणी-पूर्वी एशिया और मध्य-पूर्वी देशों के बाजार से उन्हें बाहर खदेड़ने के लिए भारतीय पूंजीपति वर्ग इन नव स्वतंत्रता प्राप्त देशों की जनता में व्याप्त सच्ची साम्राज्यवाद-विरोधी भावनाओं का इस्तेमाल कर रहा है। पूंजीवादी तौर पर कमजोर देशों पर नेतृत्व कायम करने और उसके जरिये वहां के बाजार पर आसानी से कब्जा जमाने तथा साम्राज्यवादी ताकतों से रियायतें हासिल करने के लिए मोल-तोल करने की क्षमता बढ़ाने हेतु भारत सक्रिय रूप से अफ्रीका और एशिया के कमजोर पूंजीवादी देशों का एक ब्लॉक बनाने और उनका नेता बनने की कोशिश कर रहा है। 'एफ्रो एशियन सम्मेलन', 'बांडुंग सम्मेलन' आदि इसी दिशा में की जा रही कोशिशें हैं। लेकिन दक्षिण एशिया और मध्य-पूर्वी देशों के बाजार पर कब्जा करने की भारतीय पूंजीपति वर्ग की ख्वाहिश ने साम्राज्यवादी ताकतों के साथ भारत के पूंजीपति वर्ग के विरोधात्मक द्वन्द्व को और भी बढ़ा दिया है। ये तीनों कारक एक साथ मिलकर भारतीय पूंजीपति वर्ग की साम्राज्यवाद-विरोधी भूमिका के पीछे काम कर रहे हैं। शांति की इसकी ख्वाहिश के पीछे भी यही नियत सक्रिय रूप से काम कर रही है। अभी अगर विश्वयुद्ध छिड़ जाये, तो भारतीय पूंजीपति वर्ग विश्व की सामाजिक शक्तियों के वर्तमान संतुलन से फायदा उठाने से वंचित रह जायेगा और भारत का औद्योगिकीकरण करने व एक शक्तिशाली पूंजीवादी देश के रूप में इसे विकसित करने की उसकी मुहिम मंद पड़ जायेगी। भारत का औद्योगिकीकरण करके एक ताकतवर पूंजीवादी देश के रूप में जल्द से जल्द विकसित होने के इस स्वार्थ में

ही भारत को शांतिपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति की जरूरत है। इस व्यवहारिक जरूरत ने ही भारतीय पूंजीपति वर्ग को पंचशील अर्थात शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व व सहयोग के पांच सिद्धांतों का समर्थक व शांतिकामी बना दिया है।

लेकिन यह भारतीय पूंजीपति वर्ग के चरित्र का केवल एक पहलू ही है। उसका एक दूसरा भी पहलू है। दुखद बात यह है कि इसकी अवहेलना की गयी है। हरेक पूंजीवादी राजसत्ता और उस लिहाज से भारतीय पूंजीवादी राजसत्ता भी अपने अंदर साम्राज्यवादी प्रवृत्तियां छिपाये हुए है, जो पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में ही अंतर्निहित होती हैं। संबंधित देश-विशेष की ताकत व गुंजाइश के मुताबिक और अनुकूल परिस्थितियों में ये प्रवृत्तियां खुले रूप में आ जाती हैं और इसकी चारित्रिक विशेषताएं हावी हो जाती हैं। भारत सरकार की नीतियों में इन साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों का सुराग मिलता है। वक्त गुजरने के साथ-साथ ये अपनी चारित्रिक विशेषताएं और भी ज्यादा प्रखर रूप में प्रकट करती जा रही हैं। हालांकि, अभी भी ये प्रधान चारित्रिक विशेषताओं के रूप में काम नहीं कर रही हैं। अभी तक भारतीय पूंजीपति वर्ग की प्रधान चारित्रिक विशेषताएं सापेक्ष रूप से शांति से लगाव और साम्राज्यवाद का विरोध ही हैं, लेकिन उसकी ये चारित्रिक विशेषताएं तेजी से लुप्त होती जा रही हैं और इनकी बजाय यह महाशक्तिवाली उग्र राष्ट्रवाद की भावना और विस्तारवादी रुख की तरफ झुकता जा रहा है। उपनिवेशवाद के प्रति भारत सरकार का उत्तरोत्तर मुलायम रुख जो बेलग्रेड सम्मेलन में उपनिवेशवाद और साम्राज्यवादी ताकतों के प्रति रुख के सवाल पर युगोस्लाविया, इण्डोनेशिया, मिस्र और दूसरे नव स्वतंत्रता प्राप्त एफ्रो-एशियाई देशों के साथ पैदा हुए इसके मतभेदों में अभिव्यक्त हुआ था। वह भारत सरकार की घटती हुई साम्राज्यवाद-विरोधी भूमिका का ही सूचक है। यह कोई अजीब बात नहीं है। भारत अपनी करोड़ों रुपये की वित्तीय पूंजी निवेश करके नेपाल, श्रीलंका, बर्मा (म्यांमार) और दक्षिण-पूर्वी एशिया व मध्य-पूर्वी देशों की जनता का शोषण करके बहुत तेजी से एक साम्राज्यवादी देश बनता जा रहा है। जो देश वित्तीय पूंजी के लगाकर शोषण का आधार क्षेत्र बढ़ाने यानी साम्राज्यवादी बनने की

ताबड़तोड़ कोशिश में लगा हुआ है, वह देश उपनिवेशवाद को जड़ से मिटाने का संघर्ष सही मायने में कदापि नहीं चला सकता है।

फौजी खपत को ज्यादा से ज्यादा बढ़ाकर भारतीय पूंजीपति वर्ग संकुचित अन्दरूनी बाजार की दिक्कतों से निजात पाने की कोशिश कर रहा है। यह कहने की जरूरत नहीं है कि भारतीय पूंजीपति वर्ग अपना वर्ग शासन पुख्ता करने, भारत को एक ताकतवर पूंजीवादी देश के रूप में विकसित करने और साथ ही साथ बल प्रयोग द्वारा जनता के क्रांतिकारी संघर्षों का दमन करने के उपाय के तौर पर सैन्य ताकत बढ़ाये बगैर नहीं रह सकता है। हालांकि यहां की जनता चाहती है कि सरकार शांति की नीति पर चले। ऐसी सामान्य स्थिति में प्रतिरक्षा बजट में बढ़ोतरी और सैन्य उद्योग में बढ़ोतरी इसके साथ तालमेल नहीं रखती। इसलिए जनता के विरोध का सामना होने के डर से शासक पूंजीपति वर्ग आसानी से सैन्यीकरण के लिए 'राष्ट्र खतरे में है' और 'विदेशी राष्ट्र के हमले का खतरा है' आदि लोक लुभावने नारे लगाकर देश में एक आपातकालीन अवस्था लागू करने की अनुकूल मानसिकता पैदा करने की कोशिश कर रहा है और बहुत दूर तक इसमें सफल भी हुआ है। फौजी खपत तथा प्रतिरक्षा बजट में आबंटन बढ़ाकर संकुचित अन्दरूनी बाजार में कृत्रिम रूप से तेजी बनाये रखने और भारत की सैन्य शक्ति को बढ़ाने की जरूरत भारतीय पूंजीपति वर्ग को लम्बे अर्से से चीन के साथ सीमा विवाद, पाकिस्तान के साथ कश्मीर को लेकर विवाद और अन्य पड़ोसी देशों के साथ इसके परस्पर-विरोध ी दावों को जितनी दूर तक संभव हो लटका कर रखने को बाध्य कर रही है। यह स्वाभाविक है कि अर्थव्यवस्था का संकट जितना ज्यादा गहरा होता जायेगा, जनता का ध्यान दूसरी तरफ फेरने और हथियारों की होड़ की राह पकड़ने के लिए शासक वर्ग इन सब मुद्दों को लेकर उतना ही ज्यादा हो-हल्ला मचायेगा।

भारतीय पूंजी का केन्द्रीकरण

पहले ही यह चर्चा की जा चुकी है कि पूंजीवादी बाजार के स्थायित्व का पूर्ण अभाव ही वर्तमान युग की विशिष्टता है। भारत जैसे एक सापेक्षत: कम विकसित पूंजीवादी देश के लिए पूंजी की

शक्तियों के सर्वव्यापक केन्द्रीकरण के बगैर एक ताकतवर पूंजीवादी देश के रूप में उभरना असंभव है। हमारे देश में इस सर्वव्यापक केन्द्रीकरण की प्रक्रिया साफ दिखाई दे रही है। महलानवीस कमेटी* के सर्वेक्षण के अनुसार भारत के 18 परिवारों के नियंत्रण में भारत की कुल धन-सम्पदा का 78 प्रतिशत हिस्सा है। रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया के द्वारा करायी गयी एक गणना ने उद्‌घाटित किया है कि इसमें कवर की गयी 1001 ज्वाइन्ट स्टाक कम्पनियों में से 9 कम्पनियों की हरेक की पूंजी 30 मिलियन (3 करोड़) रुपये या उससे भी ज्यादा है, जो कि सारी कम्पनियों की कुल पुंजी का 53 प्रतिशत हिस्सा है। यहां तक कि कांग्रेस पार्टी ने भी अपने मुखपत्र 'इकोनॉमिक रिव्यू' के सितम्बर 1960 के अंक में यह बात स्वीकार की है कि एकाधिकारी पूंजीपतियों के एक छोटे से हिस्से ने, जो कि पूंजीपतियों के 20 प्रतिशत से ज्यादा हिस्से का प्रतिनिधित्व नहीं करते हैं, कुल राष्ट्रीय आय का 50 प्रतिशत हड़पा हुआ है। व्यक्ति पूंजीपति भारी उद्योगों व बुनियादी उद्योगों की जिम्मेदारी लेने के कतई इच्छुक नहीं है। ऐसे उद्योगों में निजी एकाधिकारी पूंजी और राज्य की पूंजी का सम्मिश्रण करके राज्य एकाधिकारी पूंजी विकसित करने के जरिये भारत की पूंजीवादी राजसत्ता एकाधिकारी पूंजीपतियों को हर तरह की मदद करने में जुटी हुई है ताकि वे अपने साझे उद्यम को आगे बढ़ा सकें। साथ ही साथ भारत में पूंजीपति वर्ग के समग्र स्वार्थ में भारतीय राजसत्ता व्यक्ति पूंजीपतियों के येन-केन-प्रकारेण अराजक ढंग से औद्योगिक विकास और उत्पादन करने की आजादी पर विभिन्न योजनाओं के जरिये लगाम लगा रही है। कांग्रेस के अवाड़ी अधिवेशन में 'समाजवादी पैटर्न के समाज' के बारे में पारित किये गये प्रस्ताव में इन विशेष उद्देश्यों की घोषणा की गयी है जो कि फासीवाद का आर्थिक आधार तैयार करते हैं। इस प्रस्ताव में और बातों के अलावा यह भी कहा गया है कि ''बिजली, परिवहन आदि सेवाएं प्रदान करने वाली बड़ी-बड़ी स्कीमें राज्य शुरू करेगा और चलायेगा और संसाधनों, सामाजिक प्रयोजनों व

* भारत के एक जाने-माने सांख्यिकी वेत्ता और शिक्षाविद पी.सी. महलानोवीस की अध्यक्षता में गठित कमेटी

रुझानों पर मुकम्मल तौर पर कन्ट्रोल कायम करेगा और रणनीतिक कन्ट्रोल के द्वारा अराजक औद्योगिक विकास की बुराइयों की रोकथाम और उनका निवारण करेगा।''

समाजवादी पैटर्न का समाज

भारत में 'समाजवादी पैटर्न का समाज' बनाने का एक बहुप्रचारित नारा है। इसका लक्ष्य क्या है? इसके बारे में पेश किये गये प्रस्ताव में ही यह जगजाहिर है। शुरू से ही सीपीआई (भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी) ने इस नारे में पूंजीपति वर्ग द्वारा आम लोगों की समाजवाद की मांग की स्वीकृति खोज निकाली हुई है। सचमुच, कितनी अद्‌भुत दृष्टिशक्ति है। क्योंकि हिटलर के 'राष्ट्रीय समाजवाद' में भी 'समाजवाद' शब्द इस्तेमाल किया गया था, फिर उसकी भी उसी परिप्रेक्ष्य में व्याख्या करनी होगी। बाद में उन्होंने अपने पहले वाले स्टैण्ड या रुख में सुधार कर लिया और इस नारे को एक झांसा करार दिया। जहां तक समाजवाद का ताल्लुक है, यह नारा सिर्फ एक झांसा ही है–इसमें कोई शक नहीं। लेकिन इस नारे की बहुत ही सरलीकृत व्याख्या करना अर्थात झांसा करार देना सिर्फ एकतरफापन और दूरदृष्टि की कमी का शिकार हो जाना है। हर सवाल पर विचार करने के दो पहलू होते हैं। किसी भी चीज या विषय को निश्चित तौर पर समझने के मामले में यह जो नहीं है, उससे यह चीज या विषय सिर्फ अलग है यह कहने-सोचने से ही काम नहीं चल सकता, केवल नकार देने, खारिज कर देने से भी कुछ तय नहीं हो सकता है। इस नकारात्मक प्रक्रिया के साथ-साथ एक सकारात्मक प्रक्रिया भी होती है। किसी चीज या विषय का जिससे उसका फर्क किया गया है, उसे उसकी विपरीतधर्मी चीज या विषय से मिलाकर देखना होता है। उससे उसका फर्क दर्शाना होता है जो कि एक सकारात्मक प्रक्रिया है। समाजवादी पैटर्न का समाज समाजवाद नहीं है। फिर वह क्या है? सीपीआई इसका जवाब साफ तौर पर देने में चुप्पी साधे हुए है। यह 'समाजवादी पैटर्न का समाज' भारतीय पूंजीपति वर्ग की एक सुनिश्चित योजना है, जिससे वे सार्वजनिक क्षेत्र के तहत भारी व बुनियादी उद्योगों को लगाने के जरिये पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की नींव को मजबूत बनाना चाहते हैं। मौजूदा

उत्पादन शक्ति चाहे वह कितनी भी कमजोर क्यों न हो उसे एकाधिकारी रूप देना चाहते हैं, निजी एकाधिकारी पूंजी और राजकीय पूंजी का सम्मिश्रण करना चाहते हैं, पूंजीपतियों के अन्दरूनी द्वन्द्व को जहां तक संभव हो सके कम करना चाहते हैं और इस तरह देश में उनके खिलाफ संघर्षरत असंतुष्ट जनता और विदेश के प्रतिद्वन्द्वी शक्तिशाली पूंजीपतियों के खिलाफ भारत के पूंजीपति वर्ग को ताकतवर और एकताबद्ध रूप में खड़ा करना चाहते हैं। इसलिए, यह हिटलर के राष्ट्रीय समाजवाद की हूबहू नकल है, हालांकि उससे यह काफी कमजोर है।

अब पहले जिस बिन्दु का स्पष्टीकरण होना चाहिए, वह यह है कि उद्योगों के भारतीय राजकीय मालिकाने को समाजवाद कहा जा सकता है कि नहीं? अगर नहीं तो क्यों? हम जानते हैं कि समाज उत्पादन के आधार पर खड़ा होता है। पूंजीवादी समाज पूंजीपतियों के द्वारा ज्यादा से ज्यादा मुनाफा कमाने के लिए उजरती मजदूरों द्वारा माल या पण्य वस्तुओं के उत्पादन पर खड़ा होता है। कोई पूंजीवादी राज्य उद्योगों का मालिक हो जाने से ही उत्पादन संबंध नहीं बदल जाता है। राजकीय मालिकाने के बावजूद, उत्पादन संबंध उजरती मजदूर आधारित पूंजीवादी उत्पादन संबंध ही रह जाता है। इस तरह, उत्पादन करने की प्रेरक या चालक शक्ति वही बरकरार रहती है जो पूंजीवादी समाज में अधिकतम मुनाफा कमाना होती है। समाजवादी समाज उत्पादन के दूसरे आधार, दूसरे किस्म के उत्पादन के आधार पर खड़ा होता है। इसमें उत्पादन के साधनों पर सामाजिक मालिकाना होता है और उत्पादन की संचालक शक्ति सामाजिक जरूरत पूरी करना होता है। पूंजीवादी संबंध खत्म होना तो दूर की बात रही, पूंजीवादी समाज राजकीय मालिकाने की बदौलत और भी मजबूत हो जाता है। एंगेल्स ने अपनी किताब 'ड्यूहरिंग मतखंडन (Anti-Duhring) में कहा है, "परन्तु न तो ज्वाइंट स्टॉक कम्पनियों में और न ही राजकीय स्वामित्व में रूपान्तरित हो जाने से उत्पादक शक्तियों का पूंजीवादी स्वरूप समाप्त हो जाता है। जहां तक ज्वाइंट स्टॉक कम्पनियों का संबंध है, यह बात बिल्कुल स्पष्ट है। आधुनिक राज्य भी एक ऐसा ही संगठन है, जिसे पूंजीवादी समाज ने, मजदूरों या व्यक्ति पूंजीपतियों के द्वारा

किये जाने वाले अतिक्रमणों को रोककर पूंजीवादी मूल उत्पादन प्रणाली को अक्षुण्ण रखने के लिए एक सामान्य अपरिहार्य परिपूरक राज्य-व्यवस्था के तौर पर तैयार किया है। आधुनिक राज्य, चाहे उसका रूप जैसा भी हो, अनिवार्यत: एक पूंजीवादी यंत्र है, पूंजीपतियों का राज्य है, पूंजीपतियों की समग्र हितरक्षा का आदर्श प्रतिष्ठान है। वह जितनी अधिक उत्पादक शक्तियों को अपने हाथ में लेता जाता है, वह उतना ही अधिक सचमुच समग्र पूंजीवादी बनता जाता है और उतने ही अधिक नागरिकों का शोषण करने लगता है। उजरती मजदूर सर्वहारा ही बने रहते हैं। पूंजीवादी संबंध समाप्त नहीं होता, बल्कि यह कहना चाहिए कि वह उसकी चरम अवस्था में पहुंच जाता है।'' कितने साफ तौर पर कहा गया है! एंगेल्स ने यह 1878 में लिखा था। आज तो यह बात और भी ज्यादा सच है। इसलिए पूंजीवादी समाज में राजकीय मालिकाने का मतलब सामाजिक मालिकाना नहीं होता है।

एक और बिन्दु पर कुछ चर्चा करने की जरूरत है। पंचवर्षीय योजनाओं के जरिये जिस औद्योगिकीकरण की कोशिश जारी है, वह क्या एक कदम आगे की तरफ प्रगति नहीं है? और उस मायने में क्या हमारे देश की जनता को उसका समर्थन नहीं करना चाहिए? कुछ लोगों द्वारा ऐसा सवाल भी उठाया जाता है। जनता की औद्योगिकीकरण की मांग को सरकार की औद्योगिकीकरण की नीति के प्रति समर्थन देने के साथ गड्डमड्ड कर दिये जाने से ही इस ढंग से सवाल उठाया जा रहा है। इस भ्रम से ही सीपीआई ने उपरोक्त सवाल के जवाब में 'हां' कहा है और उस हिसाब से जनता से अपील भी की है। ऐसा कुछ न करने को कहा है जिससे कि योजनाबद्ध तरीके से औद्योगिकीकरण की स्कीम में बाधा पैदा हो। ऐसा रुख-रवैया होने से ही सीपीआई जब केरल राज्य सरकार में थी* तब उसने मजदूरों के हितों को तिलांजलि देकर बिड़लाओं** के साथ करार किया था। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद हमें सिखाता है कि वस्तुओं को उनके पारस्परिक संबंध और निर्भरता में ही, उनकी समग्रता में ही देखना चाहिए। ऐसे ही, योजनाओं के आम लक्ष्य से

---

* सन् 1957 में सीपीआई ने केरल में सरकार बनायी थी।

** भारत के अग्रणी उद्योगपति

अलग रखकर भी इस औद्योगिकीकरण की स्कीम को नहीं देखा जा सकता और इस पर विच्छिन्न रूप से और अलग-थलग तौर पर विचार नहीं किया जा सकता। एक वर्ग-विभाजित समाज में हरेक कार्रवाई और इस मायने में औद्योगिक विकास भी किसी न किसी वर्ग या वर्गों के स्वार्थ में संचालित है। ऐसा कुछ भी नहीं है जो कि किसी भी एक विशेष चरण में सभी वर्गों के स्वार्थ समान रूप से साधता हो। तब औद्योगिकीकरण की स्कीम के साथ-साथ पंचवर्षीय योजनाएं किसका स्वार्थ पूरा करने के अभिप्राय से चलायी जा रही हैं? निश्चित ही, भारतीय पूंजीपति वर्ग के स्वार्थ में। तब ऐसी स्थिति में, कैसे अपने देश की जनता को इस योजना के स्वार्थ में, अपनी दशा की बेहतरी के लिए किये जा रहे संघर्ष को तिलांजलि देने को कहा जा सकता है? सर्वविदित है कि ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने ही भारत में सबसे पहले आधुनिक बड़े पैमाने के उद्योग, दूरसंचार के साधन और परिवहन व्यवस्था की स्थापना की थी। अगर उनका औद्योगिकीकरण, दूरसंचार के साधन या परिवहन व्यवस्था का आधुनिकीकरण जनसमर्थन करने लायक सराहनीय कार्यकलाप होता, तब तो हमें ब्रिटिश साम्राज्यवादियों का भी समर्थन करना चाहिए था और उनके द्वारा स्थापित किये गये उद्योगों, कल-कारखानों, रेल परिवहन आदि को मान्यता देने में साम्राज्यवादी शासन के खात्मे के लिए हमारे देश का जो राष्ट्रीय आजादी आंदोलन खड़ा हुआ था, उस संघर्ष को तिलांजलि दे देनी चाहिए थी। सिर्फ दलाल पूंजीपित वर्ग (कम्प्राडोर बुर्जुआ) यानी साम्राज्यवाद के चापलूसों के सिवा कोई और ऐसा सपने में भी नहीं सोच सकता। क्यों? इसलिए कि साम्राज्यवादियों के द्वारा औद्योगिकीकरण, संचार साधन एवं परिवहन व्यवस्था के ऐसे आधुनिकीकरण का मकसद समझने और उस परिप्रेक्ष्य में जनता का अपना क्या फर्ज बनता है, यह जानने में उन दिनों किसी भी देशप्रेमी व्यक्ति ने भूल नहीं की थी। साम्राज्यवादियों ने भारत में निर्माण-उत्पादन उद्योग की स्थापना, संचार साधन या परिवहन व्यवस्था के आधुनिकीकरण का काम आज की जनता की दशा में सुधार लाने के लिए नहीं, बल्कि जनता का और भी ज्यादा शोषण करने और अपने शासन का शिंकजा और भी ज्यादा मजबूती

से कसने के लिए किया था, जबकि ऐसी स्थिति में, भारत की आजादी चाहने वाली जनता का फर्ज था साम्राज्यवादी शासन का खात्मा करके सत्ता हथियाना और अपना जीवन अपने मन-पसन्द ढंग से बनाना-संवारना। इसलिए, कोई भी देशप्रेमी व्यक्ति औद्योगिकीकरण आदि के लिए साम्राज्यवादियों का समर्थन नही कर सका था। आज भी यही स्थिति है। भारत की जनता सत्ता पर कब्जा नहीं कर पायी, बल्कि भारत के पूंजीपति वर्ग ने सत्ता पर कब्जा कर लिया है। भारत के पूंजीपति वर्ग और उसके राज्य ने उद्योगों के विकास की योजनाओं का रास्ता भारत की जनता की मुक्ति के लिए नहीं, बल्कि जनता का और भी ज्यादा शोषण करने के लिए पूंजीवादी शासन को पुख्ता और मजबूत बनाने के लिए अपनाया है। जबकि ऐसी स्थिति में जनता का फर्ज है पूंजीपति वर्ग को सत्ता से उखाड़ फेंकना, पूंजीवादी राज्यसत्ता को ध्वस्त कर देना, अपने खुद के राज्य की स्थापना करना और समाजवाद के रास्ते पर आगे बढ़ते जाना। यही रास्ता उसे सही में मुक्ति की गारंटी दे सकता है। भारत की जनता के इस निश्चित कर्त्तव्य को किसी भी कारण से टाला या छोड़ा नहीं जा सकता। औद्योगिकीकरण की जरूरत जनता को है, इसमें कोई शक नहीं। लेकिन जनता की और भी बहुत सारी जरूरतें हैं। सबसे पहली बात तो यह है कि उसे पूंजीवादी शासन-शोषण के चुंगल से मुक्त होने की जरूरत है। इसके बगैर वह अपनी जिन्दगी और समाज को अपने ढंग से नहीं बना-संवार पायेगी। जनता को संगठित करना और सरकार को औद्योगिकीकरण की दिशा में काम करने के लिए मजबूर कर देना एक बात है, लेकिन औद्योगिक विकास के लिए पूंजीवादी राज्य की मुहिम को लेकर भारत के पूंजीवादी राज्य की सरकार के हाथ मजबूत करने के लिए जनता का आह्वान करना बिल्कुल अलग बात है। सीपीआई इन दोनों बातों में फर्क समझने में नाकाम रही है।

इस तरह, पंचवर्षीय योजनाओं में जो ठोस रूप में अभिव्यक्त हो रहा है, उस 'समाजवादी पैटर्न के समाज' का नारा लगाकर ही भारतीय पूंजीपति वर्ग हमारे देश में फासीवाद की आर्थिक आधारशिला रख रहा है।

भारतीय पूंजीपतियों की दोहरी भूमिका

हमारे देश में आर्थिक केन्द्रीकरण के साथ-साथ राजनैतिक सत्ता का भी राज्य के हाथों में बढ़चढ़ कर केन्द्रीकरण होता जा रहा है। राज्य के हाथों में राजनैतिक शक्तियों के इस केन्द्रीकरण की झलक प्रशासन के रोजमर्रे के कामकाज में साफ दिखाई दे रही है। एक तरफ, थोड़ी-सी आर्थिक रियायतें देकर और वर्ग-समन्वय व प्रतिक्रियावादी राष्ट्रवादी विचारों का प्रचार-प्रसार करके आम जनता को अपने पक्ष में खींचने की कोशिश करना और दूसरी तरफ, जुझारू जन आंदोलन को बर्बरता से कुचलना– यह दमन-उत्ड़ीपन करके और बहला-फुसलाकर गुमराह करके जनता को अपने पक्ष में लाने की फासीवादी दोहरी नीति का अनुसरण भारतीय पूंजीपति वर्ग बहुत ही कुशलता से कर रहा है, जो ब्लैक शर्ट एसोसिएशन* के प्रवर्त्तकों की निपुण कौशलतापूर्वक की गयी कार्रवाई से कुछ कम नहीं है। नतीजतन, हम देख रहे हैं कि ट्रेड यूनियनें जो कि वर्ग-संघर्ष के औजार हैं, सरकारी दखलअंदाजी के जरिये अर्थवाद और मुकदमेबाजी की संस्थाओं में तब्दील की जा रही हैं। कानून-व्यवस्था बनाये रखने के नाम पर हड़ताल पर दरअसल रोक लगा दी गयी है। जिन ट्रेड यूनियनों ने कानून-व्यवस्था व अनुशासन संबंधी इस अंडरटेकिंग पर दस्तखत नहीं किये हैं, उन्हें तरह-तरह से परेशान किया जा रहा है। यहां तक कि जो थोड़े-बहुत जनवादी अधिकार संविधान में स्थान पा गये थे, उन्हें भी 'तर्कसंगत नियंत्रण' लागू करने के बहाने प्रशासनिक आदेशों, कायदे-कानूनों, अध्यादेशों आदि के द्वारा सुनियोजित ढंग से धीरे-धीरे संकुचित किया जा रहा है। सरकारी कर्मचारी आचार संहिता (Government Servants Conduct Rules), निवारक नजरबंदी कानून (Preventive Detention Act), सुरक्षा कानून (Securities Acts), जलसे-जुलूसों पर पाबन्दी लगाने का विधेयक (Restriction on Meetings And Processions Bill), आवश्यक सेवा (रख-रखाव) अध्यादेश (Essential Services (Maintenance) Ordinance) वगैरह तरह-तरह की क्रूर, अमानवीय कानूनी कार्रवाइयां इसकी मिसाल हैं। यहां तक कि सरकारी कर्मचारियों को संगठन बनाने के अधिकार से भी वंचित किया जा रहा है। सरकारी कर्मचारियों की

* फासिस्ट व नाजी हत्यारे

ट्रेड यूनियनों का पंजीकरण भी रद्द किया जा रहा है। सरकारी कर्मचारियों को अपने सहकर्मियों की ही नहीं, बल्कि अपने परिवार के सदस्यों तक की जासूसी करने और उनके द्वारा अगर कोई सरकार-विरोधी गतिविधि की जा रही है, तो उपयुक्त अधिकारियों के सामने उसकी मुखबिरी करने के लिए भी मजबूर किया जा रहा है। उस आशय का प्रावधान भारत के साम्राज्यवादी शासकों के द्वारा दिये गये प्रशासनिक आदेशों को तहखाने खोदकर निकाला जा रहा है। हमारे देश में वर्तमान शासक वर्ग मजदूरों की शांतिपूर्ण हड़तालों और जनता के जनवादी आंदोलनों का कठोरता से दमन करने के लिए नियमित सेना, सशस्त्र पुलिस, अर्द्ध-सैनिक बल, नेशनल वालंटियर फोर्स का प्रयोग करने में भी कोई शर्म महसूस नहीं करता है। किसी भी तरह के उकसावे के बगैर भी कानून व्यवस्था बनाये रखने का कोई भी मामूली-सा बहाना बनाकर पुरुषों, महिलाओं, यहां तक कि बच्चों का भी निर्दयता से सामूहिक हत्याकांड करना, आजादी के बाद के समय में लगभग आये दिन की घटना हो गयी है। सिर्फ पश्चिम बंगाल में ही पिछले 15 साल के कांग्रेसी शासन के दौरान 350 लोगों की हत्या कर दिया जाना, जनता के प्रति सरकार के फासीवादी रवैये का जीता जागता सबूत है।

राष्ट्रीय हित के लिए राष्ट्रीय एकता का नारा

'राष्ट्रीय हित के लिए राष्ट्रीय एकता' का भारतीय पूंजीपतियों द्वारा उछाला गया यह नारा दरअसल राजनैतिक क्षेत्र में 'समाजवादी पैटर्न के समाज' के आर्थिक नारे का परिपूरक है। इसका उद्देश्य वर्ग-संघर्ष के मुद्दे से बचकर निकलना और हमारे देश में मजदूर वर्ग व अन्य तबकों की शोषित जनता को पूंजीपति वर्ग के खिलाफ उनके वैचारिक संघर्ष में निहत्था कर देना है। वर्ग-विभाजित समाज में राष्ट्र एक अखंड इकाई नहीं होता है। यह विभिन्न वर्गों में बंटा होता है। भारतीय राष्ट्र भी अपने आप में अविभाजित अखंड इकाई नहीं है। इसके विपरीत इसमें जहां एक तरफ, टाटा, बिड़ला, डालमिया, सिंहानिया व अन्य पूंजीपति, धनी किसान, कुलक, अफसरशाही के उच्च गलियारों में काबिज आला अफसर और पूंजीपतियों के चाटुकार हैं; वहीं दूसरी तरफ, मजदूर, गरीब व मध्यम किसान, खेत मजदूर, मध्यमवर्गीय लोग

व अन्य तबकों के शोषित-पीड़ित जनसाधारण हैं। इस तरह, हमारे समाज में सामाजिक शक्तियां अपने-अपने निश्चित व अलग-अलग वर्ग स्वार्थों को लेकर ऐतिहासिक रूप से विभिन्न वर्गों में बंटी हुई हैं और ऐतिहासिक भूमिका निभा रही हैं। यह किसी को पसन्द हो या नहीं हो, लेकिन इससे हरगिज बचा नहीं जा सकता है। यह वर्ग-विभाजन कम्युनिस्टों का सृजन नहीं है, बल्कि यह तो नियम द्वारा नियंत्रित इतिहास द्वारा निर्धारित प्रक्रिया का परिणाम है। कम्युनिस्टों का 'दोष' मात्र इतना ही है कि इन वस्तुगत तथ्यों को वे मान्यता देते हैं और समाज विकास के नियम को समझकर समाज की तरक्की के लिए कोशिश करते हैं। हमारे जैसे एक पूंजीवादी समाज में पूंजीपति वर्ग के स्वार्थों को ही हमेशा जनता के समक्ष राष्ट्रीय हित के तौर पर पेश किया जाता है। 'राष्ट्रीय हित के लिए राष्ट्रीय एकता' का नारा कोई नया नारा नहीं है। दुनिया भर में फासिस्टों द्वारा अलग-अलग समय पर यह नारा बुलन्द किया जाता रहा है। ऊपरी तौर पर स्वविरोधाभासी होने के बावजूद, दरअसल यह हकीकत है कि सीपीआई जिसके बारे में हमें यकीन है कि वह हमारे देश में फासीवाद के बढ़ते कदमों को रोकना चाहती है, लेकिन 'राष्ट्रीय हित के लिए राष्ट्रीय एकता' के नारे के सुर में सुर मिलाकर हमारे देश के वर्ग-संघर्ष और क्रांति के लक्ष्य-उद्देश्य को पूरा करने में काफी नुकसान पहुंचा रही है।

एक उभरती हुई फासीवादी पार्टी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस

इस प्रकार हम देखते हैं कि कांग्रेस के 'राष्ट्रीय पुनर्निर्माण' हेतु लागू की जा रही सोशल डेमोक्रेटिक योजनाएं व कार्यक्रम भारत में फासीवाद की आर्थिक नींव रख रहे हैं। 'राष्ट्रीय हित के लिए राष्ट्रीय एकता' का नारा वर्ग-संघर्ष के सवाल से बच निकलने पर लक्षित है। प्रतिक्रियावादी अंधराष्ट्रवादी उन्माद को भी हवा दी जा रही है। यहां तक कि 'राष्ट्रीय एकता' और 'राष्ट्र हित' के प्रतीक के तौर पर अतिमानव के विचार को भी सूक्ष्म रूप से फैलाया जा रहा है। पंडित नेहरू को एक 'राष्ट्रीय नेता' के तौर पर प्रस्तुत करना एवं 'वर्गोपरि राष्ट्रीय हित' को मूर्त रूप देने के पीछे यही मकसद है। इस तरह, फासीवाद के सभी तत्व यहां मौजूद हैं। केवल यही

कमी है कि एक फासीवादी पार्टी नहीं है। यह कमी भी जल्द से जल्द पूरी की जा रही है। तीसरे आम चुनावों के दौरान कांग्रेस, पार्टी के तौर पर पहले से कहीं ज्यादा फासीवादी विशेषताएं और चरित्र लेकर उभरी है। हकीकत यह है कि कांग्रेस अभी भी एक फासीवादी पार्टी का मोनोलिथिक (अखंड) चरित्र हासिल नहीं कर पायी है। इसमें अभी तक खुली गुटबन्दी, ढीलाढ़ालापन, अन्य सांगठनिक कमजोरियां-खामियां हैं, जिसे फासीवाद कभी बर्दाश्त नहीं करता है। लेकिन यह फासीवादी पार्टी बनने की प्रक्रिया में है। कांग्रेस पार्टी के हितों को बढ़ावा देने के लिए मतदाताओं को डराना-धमकाना, वोटों की खरीद-फरोख्त, फर्जी मतदाता सूची, प्रशासनिक दखलअंदाजी और भी ना जाने क्या-क्या किया गया जो लगभग सभी राज्यों में पिछले आम चुनावों की चारित्रिक विशेषता थी। इसने हमारे देश में 'साफ-सुथरे और निष्पक्ष' चुनाव के मिथक को चूर-चूर कर दिया है। किसी पूंजीवादी देश में सापेक्षत: 'साफ-सुथरे और निष्पक्ष चुनाव' के लिए अत्यावश्यक सामान्य लोकतांत्रिक माहौल का पिछले चुनावों के दौरान हमारे देश में स्पष्ट अभाव था। सत्ताधारी पार्टी द्वारा हर तरह के प्रचलित फासीवादी दांवपेंच अपनाये गये थे। कितनी भी बुलन्द आवाज में नकारा जाये, लेकिन इस तथ्य को गलत नहीं साबित किया जा सकेगा। यहां तक कि चुनाव के अंत में पंडित नेहरू भी चुनाव जीतने के लिए बड़े पैमाने पर खर्च हुए धन और बोले गये झूठ पर अपनी आहत भावनाओं को प्रकट किये बगैर नहीं रह पाये। जब उनकी पार्टी उपरोक्त सभी फासीवादी तौर-तरीकों में संलिप्त रही, तब ये 'सज्जन' बिल्कुल चुप्पी साधे रहे थे। यहां तक कि उन्होंने मतदाताओं को कांग्रेस के पक्ष में प्रभावित करने के लिए सरकारी मशीनरी को भी इस्तेमाल करने दिया था। जनता के पैसे का बहुत बड़ा हिस्सा पानी की तरह बहाते हुए कर्जे मंजूर किये गये थे, खैरातें बांटी गयी थी, मुफ्त ट्यूबवेल मंजूर किये गये थे, अंधाधुंध लाइसेन्स-परमिट जारी किये गये थे। ये सब एक ही उद्देश्य को मद्देनजर रख कर यानी मतदाताओं को कांग्रेस के पक्ष में प्रभावित करने, रिझाने के लिए किये गये थे। जब चुनाव समाप्त हो गये, तो उन्होंने बस अपनी आहत भावनाओं का इजहार

कर दिया! कितना बड़ा ढोंग है! तीसरे आम चुनावों में जो कुछ भी हुआ, वह तो आगे आनेवाली चीजों का महज एक इशारा है। वक्त गुजरने और पूंजीवादी संकट घनघोर होते जाने के साथ-साथ यह और भी खुलकर सामने आयेगा–इसमें कोई संदेह नहीं है।

एक पार्टी की तानाशाही

संसदीय लोकतंत्र के पुजारी शेखी बघारते हैं कि भारत में जिस लोकतंत्र पर अमल किया जा रहा है, 'दुनिया में इससे बड़ा लोकतंत्र कहीं भी देखने में नहीं आता है'। यह इस तथ्य के सिवा और कुछ नहीं है कि यह 'सबसे बड़े लोकतंत्र' का जामा पहने हुए भारतीय पूंजीपति वर्ग की तानाशाही है। हकीकत यह है कि हम आज इंडियन नेशनल कांग्रेस पार्टी की तानाशाही हुकूमत के अधीन हैं। संसद में सरकार के विपक्ष में किसी प्रभावशाली अखिल भारतीय पार्टी की अनुपस्थिति ने भारत में संसदीय लोकतंत्र को दरअसल एक पार्टी की तानाशाही में तब्दील कर दिया है। कैसे? संसदीय लोकतंत्र की सफलता विधायिका में विपक्ष की प्रभावी भूमिका, न्यायपालिका की सापेक्ष स्वतंत्रता और जनता व राजनैतिक पार्टियों के साथ अपने बर्ताव-व्यवहार में कार्यपालिका की निष्पक्षता पर निर्भर करती है। हमारे देश में इन सभी कारकों का पूर्णत: अभाव है। विधायिका में, चाहे वह संसद हो या राज्य विधानसभाएं, उनमें कांग्रेस का स्पष्ट बहुमत है। लोकसभा के सदन की 494 निर्वाचनीय सीटों में से, 7 मार्च 1962 को सरकार द्वारा सही करके प्रकाशित अस्थाई आंकड़ों के मुताबिक पिछले आम चुनावों में कांग्रेस ने लोकसभा की 353 सीटों पर जीत हासिल की थी। राज्य विधानसभाओं की कुल 2904 सीटों में से लगभग 1800 सीटें उसने जीती थी। विधायिका में जबरदस्त बहुमत में होने से कांग्रेस अपनी निर्बाध शक्ति का दुरुपयोग कर रही है और विपक्ष द्वारा दिये गये सुझावों पर, बहुत ही महत्वपूर्ण प्रकृति के होते हुए भी, कोई तवज्जो नहीं दे रही है। काफी लम्बे अर्से से कांग्रेस के एकछत्र शासन और निकट भविष्य में किसी अन्य पार्टी के सत्ता में आने की संभावना के अभाव ने न्यायपालिका और कार्यपालिका में पहले ही यह आशंका पैदा कर दी है कि निष्पक्ष, स्वतंत्र या गैरदलीय भावना का प्रदर्शन करना खतरे से खाली नहीं है,

क्योंकि इसकी वजह से सत्ताधारी पार्टी की नाराजगी झेलनी पड़ेगी, जिसके मातहत शायद उन्हें जिन्दगी भर काम करना है। इसका नतीजा यह हुआ कि न्यायपालिका सरकार के विरुद्ध निर्णय देने से पहले दो बार सोचती है और कार्यपालिका कांग्रेस के इशारों पर और उसके कहने पर कमोबेश जी हजूरी करनेवाली बन गयी है। यह हमारा बेतुका आरोप नहीं है। यह वास्तविकता है। किसी प्रभावी अखिल भारतीय विपक्षी पार्टी के अभाव में जो कि सत्ता की निरंकुशता पर लगाम लगा सके, एक लम्बे अर्से से अभिशाप बन चुका कांग्रेस का अबाध शासन जारी है। हर ईमानदार आदमी हर रोज यह महसूस कर रहा है। यहां तक कि कलकत्ता हाईकोर्ट के पूर्व मुख्य न्यायाधीश पी. बी. चक्रवर्ती जैसे सज्जन को भी इसके खिलाफ खुलेआम यह दोषारोपण करना पड़ा था।

हमारी नजर में निकट भविष्य में राष्ट्रीय स्तर पर पार्टियों की स्थिति में कोई बड़ा परिवर्तन होने की उम्मीद बहुत कम है। हालांकि चुनावों में एक या दो प्रदेशों में कांग्रेस की पराजय होने की संभावना को पूरी तरह खारिज नहीं किया जा सकता। ग्रेट ब्रिटेन अथवा संयुक्त राज्य अमेरिका से भिन्न हमारी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में आनेवाले लम्बे समय तक छोटे उत्पादक एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते रहेंगे। नतीजतन, पेटी बुर्जुआ पार्टियां जो कि छोटे-छोटे उत्पादकों के हितों का प्रतिनिधित्व करती हैं जिनके स्थानीय, क्षेत्रीय या प्रादेशिक हित हैं, वे फिलहाल कुछ समय के लिए और अस्तित्व में बनी रहनेवाली हैं, जो दो अखिल भारतीय पूंजीवादी संसदीय दलों का उभरना मुश्किल बना रही हैं। यह केवल तभी होगा जब पूंजी के संकेन्द्रण के जरिये वर्ग शक्तियों का पूर्ण ध्रुवीकरण एवं सुदृढ़ीकरण हो जायेगा, जब छोटे-छोटे उत्पादक देश की अर्थव्यवस्था में अपना वर्तमान महत्व काफी हद तक खो देंगे और जब भारतीय पूंजीपति वर्ग का प्रतिनिधित्व प्रधानत: एकाधिकारी पूंजीपतियों के दो गुटों द्वारा किया जाने लगेगा, तब जाकर कहीं दो दलीय लोकतंत्र एक हकीकत बनेगा। केवल तभी कांग्रेस के विपक्ष में प्रभावी अखिल भारतीय संसदीय पार्टी के उभरने की संभावना बनेगी। भारतीय पूंजीपतियों की सरपरस्ती के बगैर कोई भी पार्टी अखिल भारतीय स्तर पर उस दर्जे को पाने की स्थिति में नहीं है। हालांकि सीपीआई भारतीय पूंजीपतियों की योजनाओं, उनकी विदेश

नीति, राष्ट्रीय अखंडता के लिए उनके अभियान को और सीमा विवाद के बारे में उनके अति उग्र राष्ट्रवादी रवैये के प्रति अपने समर्थन के जरिये भारतीय पूंजीपतियों को लुभाने-रिझाने और पंडित नेहरू को जनता के मसीहा के तौर पर प्रचारित कर शासक वर्ग का विश्वास जीतने की वह चाहे कितनी भी कोशिश करे, लेकिन जब तक वह 'कम्युनिस्ट' नाम छोड़ नहीं देती और अंतर्राष्ट्रीय साम्यवादी आंदोलन व नेतृत्व से अपना नाता तोड़ नहीं लेती, तब तक भारतीय पूंजीपति वर्ग से उसे अपेक्षित सहयोग मिलने की संभावना बहुत ही कम है।

संसदीय लोकतंत्र दरअसल एक पार्टी की तानाशही में तब्दील हो गया है और फासीवादीकरण की प्रवृति तेजी से बढ़ रही है और विकसित हो रही है। निसंदेह, भारत में संसदीय लोकतंत्र का भविष्य अंधकारमय है।

प्रजा सोशलिस्ट पार्टी
अंतर्राष्ट्रीय प्रतिक्रिया की एक दलाल

प्रजा सोशलिस्ट पार्टी एक दक्षिणपंथी सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी है, जिसका घनिष्ठ संबंध अंतर्राष्ट्रीय सोशल डेमोक्रेटिक नेतृत्व से है जो विश्व सामाजिक शक्तियों के वर्तमान विन्यास (alignment) में पहले से कहीं ज्यादा सोशल डेमोक्रेटिक, घोर अंधराष्ट्रवादी और सोशल-फासीवादी बन गयी है। कांग्रेस के द्वारा सोशल डेमोक्रेटिक कार्यक्रम अपनाये जाने के साथ ही प्रजा सोशलिस्ट पार्टी का कांग्रेस की योजनाओं और कार्यक्रमों के विकल्प के तौर पर जनता को देने के लिए कुछ भी नहीं है सिवा इसके कि जहां कांग्रेस पार्टी सत्तारूढ़ पार्टी के तौर पर अपनी अधिकारिक स्थिति के कारण कम्युनिज्म-विरोधी अपने प्रचार में कम मुखर है, वहीं प्रजा सोशलिस्ट पार्टी सरकारी सत्ता से बाहर होने की वजह से घोर कम्युनिज्म-विरोधी है। कम्युनिज्म-विरोधी अपनी गतिविधियों की वजह से अब वह भारत में अमेरिकी साम्राज्यवाद की सबसे भरोसेमंद दोस्त में तब्दील हो गयी है। कांग्रेस व प्रजा सोशलिस्ट पार्टी की विचारधारा व कार्यक्रम में कोई बुनियादी फर्क नहीं रहने की वजह से कार्यकर्ताओं का प्रजा सोशलिस्ट पार्टी को छोड़कर कांग्रेस में जाने के लिए तांता लगा हुआ है। कांग्रेस जितनी ज्यादा सोशल डेमोक्रेटिक

योजनाएं व कार्यक्रम अपनायेगी, उतना ही ज्यादा प्रजा सोशलिस्ट पार्टी का विघटन जोर पकड़ता जायेगा– तीसरे आम चुनावों ने हमारे इस विश्लेषण की पुष्टि कर दी है। 1952 में हुए पहले आम चुनावों में कृषक मजदूर प्रजा पार्टी और सोशलिस्ट पार्टी, जिन्होंने बाद में मिलकर प्रजा सोशलिस्ट पार्टी बना ली थी, उन्होंने संयुक्त रूप से लोकसभा की 21 सीटें और राज्य विधानसभाओं की 202 सीटें जीती थी। 1957 के दूसरे आम चुनावों में उनकी हिस्सेदारी घटकर लोकसभा की 19 सीटों और राज्य विधानसभाओं की 195 सीटों पर आ गयी थीं। तीसरे आम चुनावों में इस पार्टी ने लोकसभा की 12 सीटें और राज्य विधानसभाओं की 149 सीटें जीती थीं। राज्यों के सिलसिलेवार आंकड़े दर्शाते हैं कि इस पार्टी की जो कुछ भी शक्ति है, वह बिहार, मध्यप्रदेश, मैसूर और उत्तर प्रदेश तक ही सीमित है। इसके द्वारा पिछले आम चुनावों में विधानसभाओं में मिली 149 सीटों में से 120 सीटें इसने इन्हीं प्रदेशों से जीती थी। क्रांतिकारी पार्टी के लिए चुनावी हार बहुत कम मायने रखती है, लेकिन संसदीय पार्टियों के लिए यह सब कुछ है। यहां तक कि मौत के बराबर है और प्रजा सोशलिस्ट पार्टी इसी दिशा में बढ़ रही है।

स्वतंत्र पार्टी व जनसंघ
एक रूढ़िवादी पार्टी और दूसरी कट्टर हिन्दुत्ववादी पार्टी

यह चर्चा पहले ही की जा चुकी है कि पूंजीपति वर्ग के साझे समग्र हित में फासीवाद व्यक्ति पूंजीपतियों और अराजकतापूर्ण उत्पादन की उनकी आजादी पर पाबंदी लगाता है। व्यक्ति पूंजीपतियों को कुछ मामलों में ये पाबन्दियां अपने अनुकूल नहीं दिखाई देतीं और व्यक्ति पूंजीपतियों द्वारा इन पर नाराजगी भी जाहिर की जाती है। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और स्वतंत्र पार्टी के बीच का द्वन्द्व दरअसल भारतीय पूंजीपति वर्ग के समग्र हितों और व्यक्ति पूंजीपतियों के हितों के बीच द्वन्द्व को ही प्रतिबिम्बित करता है। जहां स्वतंत्र पार्टी व्यक्ति पूंजीपतियों के स्वार्थों का प्रतिनिधित्व कर रही है, वहीं यह, निसंदेह भारतीय पूंजीपति वर्ग के रूढ़िवादी अर्थात पुरातनपंथी हिस्से और भारत की देशी रियासतों के पूर्व शासकों का भी प्रतिनिधित्व करती है। तीन साल से भी कम समय पहले बनी स्वतंत्र पार्टी ने पिछले आम चुनावों में

लोकसभा की 18 सीटें और राज्य विधानसभाओं की 164 सीटें हथिया ली थीं। पार्टी की स्थिति राज्यों में सिलसिलेवार देखें, तो इस पार्टी ने आंध्रप्रदेश, बिहार, गुजरात, राजस्थान और उत्तरप्रदेश में अपनी 164 विधानसभा सीटों में से 144 सीटों पर जीत हासिल की थी। दूसरी तरफ, जनसंघ ने लोकसभा की 14 सीटों और राज्य विधानसभाओं की 115 सीटों पर कब्जा जमाया था। इसके द्वारा जीती गयी कुल 115 विधानसभा सीटों में से 112 सीटें मध्यप्रदेश, पंजाब, राजस्थान और उत्तरप्रदेश से थी। अन्य तीन सीटें उन जगहों से थी जो अभी हाल ही में साम्प्रदायिक अशांति से गर्माये हुए थे, जिन्हें जनसंघ ने भड़काया था और जबरदस्त लाभ उठाया था।

सीपीआई सही कम्युनिस्ट पार्टी नहीं

निसंदेह, सीपीआई ने विधायिका में अपनी स्थिति सुधार ली है। पहले आम चुनावों में इसने लोकसभा की 16 सीटें और राज्य विधानसभाओं की 106 सीटें जीती थी। दूसरे आम चुनावों में इसके द्वारा जीती गयी सीटों की संख्या क्रमशः 27 और 161 थी। पिछले आम चुनावों में इसने लोकसभा की 29 और राज्य विधानसभाओं की 166 सीटों पर जीत हासिल की थी। पिछले आम चुनावों में विभिन्न राज्यों में इसकी स्थिति यह थी कि इसके द्वारा जीती गयी राज्य विधानसभाओं की 166 सीटों में से मुख्यतः 6 राज्यों– आंध्र प्रदेश, बिहार, महाराष्ट्र, पंजाब, पश्चिम बंगाल और उत्तर प्रदेश व केन्द्रशासित त्रिपुरा में 155 उम्मीदवार चुने गये थे। संसद तथा राज्य विधानसभाओं की स्थिति में हुए इस सुधार को सीपीआई के नेतृत्व द्वारा पार्टी की सही राजनीतिक लाइन और बढ़ती सांगठनिक शक्ति के सबूत के तौर पर पेश किया जा रहा है। हमारे मतानुसार चुनाव परिणामों में वैज्ञानिक तौर पर ऐसे निष्कर्ष नहीं निकाले जा सकते हैं। जनसमर्थन और चुनावी जीत न तो स्वतः ही सीपीआई की राजनीतिक लाइन के सही होने को स्थापित करती है और न ही उसकी सांगठनिक शक्ति मापने का पैमाना है। आम चुनावों में सीपीआई के प्रति बढ़ता जन समर्थन यह साबित नहीं करता है कि भारत की जनता ज्यादा से ज्यादा साम्यवादी ख्यालात वाली बनती जा रही है या क्रांति की तैयारियां आगे बढ़ती जा रही हैं।

इन सब बातों का मात्र यही तात्पर्य है कि हमारे देश का आम आदमी बड़ी तेजी से कांग्रेस-विरोधी होता जा रहा है। (इस कांग्रेस-विरोधी भावना का मायने लाजिमी तौर पर समाजवादी चेतना हरगिज नहीं समझना है) और सभी कांग्रेस-विरोधी पार्टियों में सीपीआई को सबसे ज्यादा संगठित और शक्तिशाली पाकर उन्होंने इन चुनावों में कांग्रेस को हराने की अपनी उम्मीद इस पार्टी पर लगा रखी है। इसलिए, सीपीआई के लिए लगातार बढ़ता जा रहा जनसमर्थन मौजूदा पूंजीवादी व्यवस्था के खात्मे और समाजवादी समाज में पदार्पण की राजनीतिक लाइन का सूचक नहीं है। ज्यादा से ज्यादा यही कहा जा सकता है कि यह हमारे देश में वामपंथी सोशल डेमोक्रेटिक संसदीय झुकाव को ही दर्शाता है। चुनावों में बढ़ता जनसमर्थन पार्टी की राजनैतिक लाइन सही होने का सबूत है—इस दावे के बेतुकेपन को आसानी से समझा जा सकता है, बशर्ते कि हम इतिहास की यह सीख भूला न दें कि घोर प्रतिक्रियावादी पार्टियों द्वारा भी जनता को गुमराह कर दिया जाना कोई असामान्य बात नहीं है। हमारे देश में अतीत में भी ऐसी घटनाएं देखने में आयी हैं। हमारे राष्ट्रीय आजादी आंदोलन के दौरान ज्यादातर मुसलमानों ने तहेदिल से मुस्लिम लीग का साथ दिया था, जिसका नतीजा चुनावों में मुस्लिम लीग की शानदार जीत के रूप मे सामने आया था। व्यापक जनसमर्थन एवं असाधारण चुनाव परिणामों के बावजूद, राष्ट्रीय आजादी आंदोलन के लिए पूरे साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष के दौरान मुस्लिम लीग का राजनीतिक स्टैण्ड (अभिमत) राष्ट्र-विरोधी और प्रतिक्रियावादी था। हाल ही के हालातों पर नजर डालें, तो हम पाते हैं कि जनसंघ ने विधायिका में अपनी स्थिति सुदृढ़ कर ली है। हमारे हिसाब से कोई भी सचेत व्यक्ति यह नहीं कहेगा कि जनसंघ का राजनीतिक स्टैण्ड सही होना इसकी वजह है। तीनों आम चुनाव क्या यह नहीं साबित करते हैं कि विशाल जनसमर्थन अभी भी कांग्रेस के साथ है? तब फिर क्या हम यह स्वीकार कर लें कि कांग्रेस का राजनीतिक स्टैण्ड सही है और समर्थन योग्य है? विधायिका में बेहतर होती स्थिति किसी पार्टी के राजनीतिक स्टैण्ड के सही होने की परिचायक है—यह तर्क सरासर बचकाना है। किसी पार्टी के राजनीतिक स्टैण्ड का सही होना कभी भी चुनाव परिणामों द्वारा स्थापित नहीं किया जा सकता। इसे वैज्ञानिक ढंग

से स्थापित किया जाना चाहिए। इसी प्रकार, चुनावों में जीत भी सांगठनिक शक्ति के बढ़ने की परिचायक नहीं होती। चुनावों में कामयाबी कई और कारकों से भी मिल जा सकती है, जिसका संगठन से कोई लेना-देना नहीं रहता। पिछले आम चुनावों के परिणाम दिखाते हैं कि पश्चिम बंगाल की बहुत सारी संसदीय सीटों से सीपीआई के उम्मीदवार चुने गये हैं जहां इस पार्टी का संगठन अपेक्षाकृत कमजोर है, जबकि वहां पराजित हुए हैं जहां इसका संगठन तुलनात्मक रूप से मजबूत था।

हमारी यह सुविचारित राय है कि सीपीआई एक सही कम्युनिस्ट पार्टी नहीं है। यह एक 'कम्युनिस्ट' नामधारी पेटी बुर्जुआ वामपंथी सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी है। सबसे पहले यह बात समझ लेनी चाहिए कि कम्युनिस्ट नाम होने से ही कोई पार्टी सही कम्युनिस्ट पार्टी नहीं हो जाती। टीटो की पार्टी का नाम कम्युनिस्ट लीग ऑफ युगोस्लाविया है। लेकिन कम्युनिस्ट नाम इस पार्टी को एक सही कम्युनिस्ट पार्टी नहीं बना पाया। चौथे इन्टरनेशनल की पार्टियां या तो क्रांतिकारी कम्युनिस्ट या बोल्शेविक लेनिनवादी नामधारी ही हैं, लेकिन न तो वे कम्युनिस्ट हैं और न ही बोल्शेविक-लेनिनवादी हैं। वे तो पक्के तौर पर ट्रॉटस्कीवादी हैं। इसी प्रकार, द्वितीय इन्टरनेशनल के प्रति निष्ठा रखने वाली पार्टियां आम तौर पर नाम से समाजवादी हैं। लेकिन सिर्फ 'समाजवादी' शब्दावली का प्रयोग इन्हें वास्तविक समाजवादी के तौर पर स्थापित नहीं कर देता। एक बहुत बड़ी संख्या में कम्युनिस्ट पार्टियों का नाम तक कम्युनिस्ट नहीं है, कुछ का नाम पार्टी ऑफ लेबर, कुछ का नाम सोशलिस्ट यूनिटी पार्टी वगैरह है, ऐसी अन्य बहुत सारी पार्टियां हैं। इसलिए, किसी पार्टी का नाम उसके वर्ग चरित्र का कोई परिचायक नहीं है। यह जानने के लिए कि कोई खास पार्टी कम्युनिस्ट है कि नहीं, उसके सिद्धांत, कार्यपद्धति, चिंतन प्रक्रिया, आंदोलन की पद्धति, सांगठनिक सिद्धांत और कार्यप्रणाली को मार्क्सवादी तर्कशास्त्र की कसौटी पर कसकर जांचना-परखना लाजिमी तौर पर जरूरी है। किसी भी सही कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा इन बुनियादी सवालों पर मार्क्सवाद-लेनिनवाद से हटकर विचार नहीं हो सकता।

आइये, सबसे पहले सिद्धांत को लें। लेनिन ने कहा था कि ''क्रांतिकारी सिद्धांत के बगैर कोई क्रांतिकारी पार्टी नहीं बन सकती।'' जबकि इस महत्वपूर्ण सवाल पर सीपीआई कैसा रूख अख्तियार करती है? इस सवाल का जवाब देने के लिए अब हम सीपीआई के नेताओं द्वारा दिये गये एक वक्तव्य को उद्धृत करेंगे और पार्टी के कार्यकर्ताओं से अनुरोध करेंगे कि इसके निहितार्थ पर सही ढंग से सोच-विचार करें। सीपीआई के दिवंगत महासचिव अजय घोष ने जब पार्टी का नेतृत्व संभाला, तो उन्होंने कबूल किया था कि शुरुआत से लेकर अभी तक पार्टी की सम्पूर्ण गतिविधियों में एक गैर-मजदूर वर्गीय दृष्टिकोण एवं चिंतन प्रक्रिया प्रतिबिम्बित हुई है। यह तो अजय घोष की सहृदयता है जो उन्होंने सच्चाई को स्वीकारा। लेकिन यह केवल एक नकारात्मक स्वीकारोक्ति है। इस स्वीकारोक्ति से सकारात्मक परिणाम क्या निकलता है? सदस्यों की राजनीतिक चेतना का स्तर इतना निम्न है कि किसी ने भी अजय घोष से यह सवाल नहीं किया। इस सवाल के जवाब के लिए आइये मार्क्सवाद-लेनिनवाद पर दृष्टिपात करते हैं। मार्क्सवाद हमें सिखाता है कि हरेक विचार, दृष्टिकोण, चिंतन प्रक्रिया या आंदोलन पद्धति निरपवाद रूप से किसी न किसी वर्ग या वर्गों के विचार, दृष्टिकोण अथवा नजरिये को प्रतिबिम्बित करती है। इसलिए, अपनी स्थापना काल से लेकर अजय घोष के नेतृत्व काल तक सीपीआई की समस्त गतिविधियां जब उनके महासचिव की स्वीकारोक्ति के अनुसार गैर-मजदूर वर्गीय दृष्टिकोण और चिंतन प्रक्रिया को प्रतिबिम्बित करती रहीं, तब तो अवश्य ही मजदूर वर्ग की बजाय किसी अन्य वर्ग या वर्गों के दृष्टिकोण और चिंतन प्रक्रिया को प्रतिबिम्बित करती रही होंगी। इसका मतलब यह है कि उनकी गतिविधियों ने या तो बुर्जुआ वर्ग अथवा पेटी बुर्जुआ वर्ग के दृष्टिकोण और चिंतन प्रक्रिया को प्रतिबिम्बित किया। क्या एक पार्टी जो अपने गठनकाल से ही अर्थात लगभग 25 सालों से पेटी बुर्जुआ या बुर्जुआ वर्ग दृष्टिकोण और चिंतन प्रक्रिया से संचालित होती आ रही है, एक सही कम्युनिस्ट पार्टी हो सकती है? इस सवाल के जवाब में मार्क्सवाद-लेनिनवाद कहता है—नहीं, कदापि नहीं हो सकती। इसलिए, हमारा यह विश्लेषण कि सीपीआई एक सही कम्युनिस्ट पार्टी

नहीं है, इस पार्टी के दिवंगत महासचिव की स्वीकारोक्ति से भी पुख्ता हो जाता है। इस पार्टी के इतिहास की जांच-पड़ताल दिखा देगी कि सीपीआई सही लेनिनवादी सिद्धांतों से नहीं, बल्कि या तो दक्षिणपंथी सुधारवाद अथवा उग्र वामपंथी दुस्साहसवाद से संचालित होती आयी है। 1928 से 1934 तक पार्टी ने उग्र वामपंथी दुस्साहसवादी नीति अपनायी थी, जिसका नतीजा यह हुआ कि राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए संघर्षरत साम्राज्यवाद-विरोधी जनता से राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग के नेतृत्व को अलग-थलग करके उस आंदोलन पर मजदूर वर्ग का नेतृत्व स्थापित करने की बजाय एक संकीर्णतावादी नीति अपनायी थी, संघर्षरत जनता से अपने आपको अलग-थलग कर लिया था और इस प्रकार परोक्ष रूप से पूंजीपति वर्ग को कम्युनिज्म के खिलाफ दुष्प्रचार अभियान चलाने में मदद पहुंचायी थी। सर्वोपरि, इस संकीर्णतावादी नीति ने हमारे देश में राष्ट्रीय आजादी के लिए संघर्षरत साम्राज्यवाद-विरोधी ताकतों पर समझौतापरस्त राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग को अपना नेतृत्व मजबूती से कायम करने में पूरी मदद की थी। इस भूल की भारी कीमत जनता आज भी चुका रही है। इसके बाद इस गलत नीति को सुधारने के नाम पर सीपीआई ने एकदम पलटी मारी और दक्षिणपंथी सुधारवाद के दूसरे अतिवादी कदम की तरफ झुक गयी। हालांकि लिखित तौर पर नहीं, लेकिन हकीकत में इस पार्टी ने 'राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग और सर्वहारा वर्ग के संयुक्त नेतृत्व एवं राष्ट्रीय जनवादी क्रांति में राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग और सर्वहारा वर्ग के जनतांत्रिक अधिनायकत्व' की प्लेखानोव द्वारा बनायी गयी बहुनिन्दित व पूरी तरह ठुकराई हुई नीति अपनायी थी और साम्राज्यवाद व सर्वहारा क्रांति के इस युग में 'राष्ट्रीय जनवादी क्रांति में सर्वहारा वर्ग और किसान समुदाय के जनवादी अधिनायकत्व' की लेनिनवादी रणनीति को व्यवहारतः तिलांजलि दे दी थी। इस समय, खास तौर पर युद्ध के दौरान इस पार्टी द्वारा वर्ग-संघर्ष के सिद्धांत और व्यवहार को तिलांजलि देने का मामला स्पष्ट दृष्टिगोचर है। फिर राष्ट्रीय सवाल और राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार जैसे मुद्दों पर मार्क्सवादी-लेनिनवादी शिक्षाओं की बेपरवाह धज्जियां उड़ाते हुए इस पार्टी ने मुस्लिम लीग की पाकिस्तान की मांग का समर्थन किया था। राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग को हुए

सत्ता हस्तांतरण के बाद भी सीपीआई की तमाम गतिविधियों में वही सुधारवादी दृष्टिकोण व्याप्त रहा। उन्होंने इस सत्ता हस्तान्तरण को 'आगे की तरफ एक कदम' की संज्ञा देते हुए इसकी जयजयकार की थी। वर्ग-संघर्ष और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की बुनियादी अवधारणा का उल्लंघन करते हुए इस पार्टी ने मुख्य राजनैतिक नारा दिया था –'नेहरू को पूर्ण समर्थन दो', 'जनता के जनतांत्रिक गणतंत्र का निर्माण करो'।

ठेठ निम्न पूंजीवादी चारित्रिक ढंग के अनुरूप ही यह पार्टी अपने सड़े-गले सुधारवाद की उल्टी प्रतिक्रिया में फिर से उग्र वामपंथी दुस्साहसवाद की तरफ झुक गयी। यह परिस्थिति 1948 से 1951 तक बनी रही। उस दौरान पार्टी की स्थिति इतनी असंगत थी कि जहां पार्टी की थीसिस में साम्राज्यवाद-विरोधी बुर्जुआ जनवादी क्रांति की रणनीति प्रतिपादित की गयी थी, वहीं वास्तव में आंदोलन पूंजीपति वर्ग को सत्ता से उखाड़ फेंकने वाली समाजवादी क्रांति का लक्ष्य लेकर चलाये गये थे। रणदिवे के नेतृत्व के खलबली भरे दिनों के बाद सीपीआई फिर दक्षिणपंथी सुधारवाद में आकंठ डूब गयी थी। इसकी पालघाट पार्टी कांग्रेस ने तो यहां तक हद कर दी कि 1947 में भारत ने जो राष्ट्रीय आजादी हासिल की, उसे भी उसने झूठी आजादी घोषित कर दिया था और यह मानकर चलती रही कि भारत अभी भी ब्रिटिश साम्राज्यवादियों द्वारा संचालित एक उपनिवेश है। लेकिन जब सोवियत नेतृत्व ने राजकीय स्तर से 'भारत सरकार की स्वतंत्र विदेश नीति' की बात कही, तो सोवियत नेतृत्व के इस विश्लेषण का पार्टी की राजनीतिक लाइन के साथ मेल बिठाना उनके लिए बड़ा मुश्किल हो गया। सीपीआई के प्रतिपादनों के अनुसार भारत उस समय तक भी ब्रिटिश साम्राज्यवाद का एक उपनिवेश ही था। लेकिन एक उपनिवेश की 'स्वतंत्र विदेश नीति' कैसे हो सकती है? इसलिए, पार्टी की केन्द्रीय कमेटी के दिल्ली प्लेनम में पार्टी की थीसिस बदलनी पड़ी थी।

इसके बाद से दक्षिणीपंथी सुधारवाद की धारा निरंतर प्रवाहमान है। गैर मजदूर वर्गीय विचारों एवं दृष्टिकोण के साथ यह धारा अब तो

---

* दिवंगत पी. सी. जोशी, एक समय सीपीआई (अविभाजित) के महासचिव

सीपीआई की समस्त गतिविधियों में रम चुकी है। अगर 'गैर-मजदूर वर्गीय दृष्टिकोण व चिंतन प्रक्रिया' के लिए जोशी* के नेतृत्व की भर्त्सना हुई (निश्चय ही, वह उसके चरित्र का एक सही वर्णन था), तो क्या वर्तमान नेतृत्व उसी गलती के लिए अधिक भर्त्सना करने लायक नहीं है? क्या वर्तमान नेतृत्व दक्षिणपंथी सुधारवाद के दलदल में जोशी की अपेक्षा और ज्यादा भीतर तक नहीं धंसा हुआ है? क्रांति की रणनीति का इसका प्रतिपादन, संसदीय रास्ते से शांतिपूर्ण क्रांति के सिद्धांत के पक्ष में इसकी वकालत, पंचवर्षीय योजनाओं को दिया गया इसका समर्थन, 'शांति' नीति के पीछे भारतीय पूंजीवादी वर्ग के छिपे मंसूबे और समाजवादी देशों द्वारा लगातार अनुसरण की जा रही शांति नीति से इसके अंतर को जनता के सामने रखे बगैर भारत सरकार की विदेश नीति को दिया गया इसका बेरोकटोक समर्थन, राष्ट्रीय एकता-अखंडता के लिए पूंजीपति वर्ग की कोशिशों को इसके द्वारा पूरी तरह दी गयी शह– वह भी जनता की एकता के बारे में सर्वहारा वर्ग की अवधारणा और कोशिशों से इसके फर्क का जरा भी जिक्र किये बगैर– 'राष्ट्रीय एकता', 'राष्ट्रीय हित' आदि जैसे नारों पर पूंजीपति वर्ग के साथ इसकी सहमति, सीमा विवाद के संदर्भ में इसका उग्र राष्ट्रवादी रुख, सशस्त्र बलों को आधुनिक युद्ध संबंधी साजोसामान से लैसकर भारतीय पूंजीवादी राज्य की सैन्य शक्ति को मजबूत करने की इसके द्वारा की गयी मांग, पार्टी के सदस्यों द्वारा संसद में रक्षा बजट में बढ़ोतरी करने का आह्वान जैसी सिर्फ कुछेक बातें जिनका मैं जिक्र कर रहा हूं, पार्टी के गैर-मजदूर वर्गीय दृष्टिकोण, चिंतन प्रक्रिया और कार्यपद्धति की सामान्य कुछेक मिसाल हैं। कोई सही कम्युनिस्ट पार्टी मार्क्सवाद-लेनिनवाद के बुनियादी उसूलों से संबंधित इस प्रकार की गलतियां कभी नहीं कर सकती। इस गैर मजदूर वर्गीय विचारधारा, चिंतन प्रक्रिया, कार्यपद्धति और नजरिये के प्रयोग और अमल के जरिये तैयार हुई पार्टी की सांगठनिक शक्ति और पार्टी ढांचे को किसी भी प्रकार से एक कम्युनिस्ट पार्टी की संज्ञा नहीं दी जा सकती, जो मजदूर वर्ग के सबसे ज्यादा जागरूक और अगुआ दस्ते की नुमाइन्दगी करती है। आलोचना-आत्मालोचना के समय पार्टी के नेताओं द्वारा पार्टी सदस्यों के मनोबल को यह कहकर ऊंचा रखा जाता है कि एक

कम्युनिस्ट पार्टी होने के नाते वे कभी भी गलतियों को स्वीकार करने से डरते नहीं हैं। (आलोचना-आत्मालोचना को मार्क्सवादी-लेनिनवादियों द्वारा जिस तरह समझा जाता है, सीपीआई में उस तरह कभी संचालित नहीं किया जाता है। जो कुछ किया जाता रहा है, वह है एकतरफा चर्चा और एक व्यक्ति को बलि का बकरा बना देना)। लेकिन क्या गलतियों को स्वीकार कर लेने से ही यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि वह एक सही कम्युनिस्ट पार्टी है? निश्चित ही नहीं। क्योंकि कोई पार्टी दो प्रकार की गलतियां कर सकती है: (1) मार्क्सवाद-लेनिनवाद के बुनियादी सिद्धांतों में गलती तथा रणनीति, कार्यपद्धति, चिंतन प्रक्रिया, आंदोलन पद्धति और सांगठनिक सिद्धांतों के प्रतिपादन में गलती और (2) रणकौशलगत गलतियां, रोजमर्रे के आंदोलन में सही सिद्धांत को लागू करने में गलतियां।

अगर कोई पार्टी पहली प्रकार की गलती कर रही है, तो यह पार्टी के गैर सर्वहारा वर्गीय चरित्र की सूचक है। दूसरे शब्दों में कहें, तो यह साबित करता है कि जो पार्टी इस तरह की गलती कर रही है, वह नाम के बावजूद एक सही कम्युनिस्ट पार्टी नहीं है। चूंकि वह सही कम्युनिस्ट पार्टी नहीं है, इसलिए उसकी गलतियों को सुधारने और उसे मजबूत करने का कोई सवाल ही नही उठता है। इसकी वजह यह है कि एक वर्ग की पार्टी को गलती सुधारने के द्वारा किसी दूसरे वर्ग की पार्टी में तब्दील नहीं किया जा सकता, कम्युनिस्ट पार्टी में तब्दील करना तो दूर की बात रही। इस पार्टी के जो सदस्य सरल विश्वास के आधार पर गलती से यह विचार पाल लेते है कि यह पार्टी कम्युनिस्ट है, उन सबका फर्ज बनता है कि इस पार्टी को भंग कर दें और एक सही कम्युनिस्ट पार्टी बनायें। सीपीआई के जो सदस्य भारत में साम्यवाद कायम करना चाहते हैं, उन्हें इसी रास्ते पर चलना पड़ेगा। चूंकि यह पार्टी कम्युनिस्ट पार्टी बिल्कुल नहीं है, इसलिए गलतियां सुधारकर इस पार्टी को मजबूत करने की बात सोचने का मतलब ही हो जाता है दूसरे वर्ग की पार्टी को ही मजबूत करना।

अब तक सिद्धांत संबंधी बातें हुईं, अब कुछ बातें व्यवहार के बारे में होनी चाहिए। यह सही है कि एक कम्युनिस्ट पार्टी संसदीय गतिविधियों में भाग लेती है। लेकिन संसदीय राजनीति में भाग लेते हुए

भी एक कम्युनिस्ट पार्टी हमेशा जनता को संसदीय व्यवस्था की निरर्थकता के बारे में शिक्षित करने का प्रयत्न करती रहती है और जनता में क्रांतिकारी चेतना का संचार करने के साधन के तौर पर संसद के बाहर जन आंदोलन गठित करती रहती है। हालांकि, सीपीआई की गतिविधियां इसके एकदम विपरित हैं। सिर्फ इतना ही नहीं कि यह पार्टी संसद के बाहर जुझारू जन आंदोलन गठित करने और उन्हें विकसित करने की कोई कोशिश नहीं करती है, बल्कि कुछ इस प्रकार से काम करती है कि संसद के बाहर जनता के जुझारू आंदोलन में रुकावट पैदा हो जाती है। ट्राम भाड़ा बढ़ोतरी के खिलाफ आन्दोलन, शिक्षक आंदोलन, खाद्य आंदोलन, केन्द्रीय सरकारी कर्मचारियों के आंदोलन आदि जैसे हमारे देश के आम लोगों द्वारा चलाये गये सभी जनवादी जन आंदोलनों का हश्र यही हुआ। हर बार जनता ज्यादा से ज्यादा तादाद में बाहर निकलने और जुझारू जन संघर्ष चलाने के लिए तैयार थी और हर बार इस जुझारूपन को उभारने और उन आंदोलनों को सही दिशा देने की बजाय सीपीआई ने लोगों के जुझारू मिजाज पर ठण्डा पानी डाल दिया और उसे बड़ी चतुराई से संसदीय राजनीति की भूल भुलैया में ले गयी।

सिद्धांत और व्यवहार में इन बुनियादी किस्म की गलतियों के अलावा पार्टी की कार्यपद्धति भी उसके गैर सर्वहारा वर्गीय चरित्र की पोल खोल देती है। एक सही कम्युनिस्ट पार्टी की कार्यपद्धति, चिंतन प्रक्रिया, आंदोलन का तौर-तरीका हमेशा ही द्वन्द्वात्मक होता है। लेकिन विश्व साम्यवादी आंदोलन की अगुआ कम्युनिस्ट पार्टी और दूसरी किसी कम्युनिस्ट पार्टी के बीच संबंध को समझने के मामले में, विश्व सर्वहारा क्रांति के आम कार्यक्रम और किसी देश विशेष में क्रांति के खास कार्यक्रम के बीच संबंध को समझने के मामले में सीपीआई का रुख-रवैया व आचरण द्वन्द्वात्मक नहीं, बल्कि औपचारिक या यांत्रिक तरह का रहा है।

नेतृत्वकारी कम्युनिस्ट पार्टी और किसी अन्य कम्युनिस्ट पार्टी के बीच, और भी स्पष्ट तौर पर कहा जाये, तो सोवियत यूनियन की कम्युनिस्ट पार्टी (सीपीएसयू) के साथ सीपीआई के संबंध के मामले में सही अवधारणा निर्मित करने के सवाल पर प्रारंभिक चालक

(prime mover) की यांत्रिक अवधारणा पहले भी काम कर रही थी और अभी भी काम कर रही है। विश्व साम्यवादी आंदोलन में नेतृत्वकारी कम्युनिस्ट पार्टी की अवधारणा यह पूर्वनिर्धारित नहीं मान लेती है कि हर मामले में अगुआ कम्युनिस्ट पार्टी को प्रश्नातीत और स्थाई नेतृत्व के तौर पर मान लेना है। इसका अभिप्राय न तो अगुआ कम्युनिस्ट पार्टी का अंधानुकरण करने से है और न ही वह जो कुछ भी फैसला करे उसे अपनी अंधस्वीकृति देते जाने से है, बल्कि इसके विपरीत, इसका अभिप्राय सामूहिक नेतृत्व के लिए लाजिमी द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया को सुनिश्चित करने के लिए एक मिलनात्मक प्रकृति के संघर्ष से है जिसकी पूर्वशर्त यह है कि नेतृत्वकारी कम्युनिस्ट पार्टी के साथ उसके विचारों का टकराव यानी क्रिया-प्रतिक्रिया हो। लेकिन सोवियत यूनियन की कम्युनिस्ट पार्टी (सीपीएसयू) और सीपीआई के बीच आपसी रिश्तों की इसकी समझदारी में प्रारंभिक चालक (prime mover) की यांत्रिक अवधारणा ने सीपीआई की भूमिका किसी दूसरे के मुखापेक्षी के स्तर तक सीमित करके रख दी है। इसका भारत में क्रांति के लक्ष्य-उद्देश्य के लिए बहुत ही नुकसानदेह नतीजा निकला है। इसके अलावा, विश्व सर्वहारा क्रांति के आम कार्यक्रम और भारत में क्रांति के खास कार्यक्रम के बीच रिश्ते की समझदारी के संदर्भ में भी सीपीआई की गतिविधियों-कार्यकलापों में उसी प्रकार की यांत्रिक व औपचारिक चिंतन प्रक्रिया व कार्यपद्धति दृष्टिगोचर हुई है। द्वन्द्ववाद हमें आम और खास के बीच के द्वन्द्व को समझने की सीख देता हैं। हर जिम्मेदार कम्युनिस्ट जानता है कि विश्व सर्वहारा क्रांति का आम कार्यक्रम हमें विश्व सर्वहारा क्रांति के आम नियामक सिद्धांत तय कर देता है, जिन्हें विभिन्न देशों में मौजूद वस्तुनिष्ठ और ठोस परिस्थितियों के मुताबिक रचनात्मक तरीके से लागू करना होता है। अब जाहिर है कि एक देश से दूसरे देश की ठोस परिस्थितियों में भिन्नता होती है। इसलिए विश्व सर्वहारा क्रांति के आम नियामक सिद्धांतों का ठोस व रचनात्मक कार्यान्वयन हरेक जगह एक जैसा नहीं हो सकता। एक देश से दूसरे देश में इसका फर्क होगा ही। नतीजतन विश्व सर्वहारा क्रांति के आम कार्यक्रम और किसी देश विशेष में क्रांति के खास कार्यक्रम के बीच हमेशा एक द्वन्द्व बना रहता है। इस द्वन्द्व को जो कोई भी

नजरअंदाज कर देता है, वह औपचारिकतावाद से उत्पन्न भ्रांति का शिकार हो जाता है और मार्क्सवाद-लेनिनवाद को एक बेजान जड़सूत्र बना डालता है। सीपीआई के कार्यकलापों में विश्व सर्वहारा क्रांति के आम कार्यक्रम के प्रति द्वन्द्वात्मक रुख अपनाने की बजाय यही औपचारिक रुख साफ देखा जाता है। विश्व सर्वहारा क्रांति के आम कार्यक्रम के संदर्भ में सोवियत यूनियन की राजकीय स्तर पर घोषित विदेश नीति को समझने के मामले में भी सीपीआई के सोच-विचार और वस्तुनिष्ठ आचरण-व्यवहार में ठीक इसी तरह की गैर-द्वन्द्वात्मक औपचारिक चिंतन प्रक्रिया देखी गयी है। सीपीआई दोनों को एक ही मानती है और रोबोट की भांति वही करती है और तोते की भांति वही दुहराती रहती है जो सोवियत यूनियन की विदेश नीति को सिरे चढ़ाने के लिए सीपीएसयू करती या कहती है। सोवियत विदेश नीति का लक्ष्य समाजवादी ताकतों को मजबूत करना, पूंजीपतियों और साम्राज्यवादियों के बीच विरोधात्मक द्वन्द्व को और भी बढ़ाना और गहरा करना, साम्राज्यवादी युद्ध खेमे में कम दुस्साहसवादियों को ज्यादा दुस्साहसवादियों से अलग-थलग कर डालना, विश्व शांति की रक्षा करना और उसे बनाये रखना तथा उसके द्वारा विश्व सर्वहारा क्रांति के विकास, वृद्धि और विजय के लिए वस्तुनिष्ठ परिस्थितियां पैदा करना है। उसका लक्ष्य भारत में क्रांति करना नहीं है। इसे भारत में मजदूर वर्ग की क्रांतिकारी पार्टी को ही अंजाम देना है। सोवियत विदेश नीति के प्रभाव से अंतर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय क्षेत्र में जो अनुकूल परिस्थिति पैदा हुई है और जो हमारे देश में क्रांति की तैयारी के काम को आगे बढ़ाने में मददगार हो सकती है, उसका फायदा नहीं उठाना और उसकी बजाय रोबोट की तरह काम करना और जो कुछ भी सोवियत नेता कहते हैं या करते हैं, उसे ही तोते की भांति दुहराते रहना दरअसल राजनीतिक विचारों और कार्यों में इसके दिवालियेपन के सिवा और कुछ नहीं है।कोई भी सही कम्युनिस्ट पार्टी अपनी कार्य पद्धति, चिंतन प्रक्रिया और आंदोलन की प्रक्रिया के मामले में ऐसा औपचारिक रुख प्रदर्शित नहीं करती है।

सांगठनिक सिद्धांतों के मामले में भी सीपीआई के गैर-मजदूर वर्गीय चरित्र का भंडाफोड़ होता है। पार्टी संगठन का लेनिनवादी

सिद्धांत है जनवादी केन्द्रीयता। लेकिन यह जनवादी केन्द्रीयता क्या होती है? लेनिन के कथनानुसार यह केन्द्रीयता और सर्वहारा जनवाद का सम्मिश्रण होता है। यहां इस तथ्य को अवश्य ही समझना चाहिए कि सर्वहारा जनवाद सारतत्वहीन औपचारिक जनवाद नहीं होता है। सर्वहारा जनवाद विश्व सर्वहारा दृष्टिकोण की उपज होता है, जबकि औपचारिक जनवाद पूंजीवादी सामाजिक व्यवस्था का प्रतिबिम्बन होता है। इसलिए, पार्टी का सर्वाधिक औपचारिक जनवादी संविधान भी पार्टी में जनवादी केन्द्रीयता नहीं ला सकता है। यह मुख्य तौर पर पार्टी कार्यकर्ताओं की वैचारिक चेतना के आवश्यक स्तर पर निर्भर करता है, जिससे कि विचारों और मतों का संघर्ष सुनिश्चित हो सके यानी कागजों पर ही नहीं, बल्कि असल में पार्टी बॉडियों में 'चर्चा के जरिये विचार-विमर्श' और साथ ही पार्टी कार्यकर्ताओं की सचेत सर्वहारा क्रांतिकारी भूमिका पर निर्भर करता है। दरअसल वैचारिक चेतना के आवश्यक स्तर के बगैर पार्टी जीवन और जनवादी केन्द्रीयता की प्रक्रिया में विचारों और मतों का संघर्ष होना बंद हो जाता है और जनवादी केन्द्रीयता वस्तुतः औपचारिक जनवाद पर आधारित केन्द्रीयता के व्यवहार में तब्दील हो जाती है, जिसके नतीजतन यह निचले स्तर पर पार्टी पांतों के आम सदस्यों-कार्यकर्ताओं से अलग-थलग पड़ गये अफसरशाहीपूर्ण नेतृत्व को शीर्ष पर जन्म दे देती है और द्वन्द्वात्मक चिंतन प्रक्रिया की जगह यांत्रिक चिंतन प्रक्रिया स्थापित हो जाती है तथा नेताओं व आम कार्यकर्ताओं के बीच द्वन्द्वात्मक रिश्ते की बजाय यांत्रिक रिश्ता कायम हो जाता है। किसी प्रभावशाली व्यक्तित्व की अनुपस्थिति में, इन हालात में, पार्टी बॉडियों में गुटबाजी व धड़ेबन्दी उभर आती है और पार्टी का नेतृत्व विभिन्न गुटों व धड़ों के बीच सुलह-समझौते के जरिये पार्टी की एकता को बनाये रखा जाता है, पार्टी नेतृत्व काम करता रहता है। यह बताने की जरूरत नहीं है कि इस तरह से नेतृत्व का गठन और संचालन सामूहिक नेतृत्व और पार्टी संगठन की मार्क्सवादी-लेनिनवादी अवधारणा के विपरीत है। सीपीआई के कार्यकर्ताओं की वैचारिक चेतना का अकल्पनीय निम्न स्तर जो मार्क्सवाद-लेनिनवाद के बुनियादी सिद्धांतों के निर्धारण के मामले में पार्टी द्वारा की गयी गलतियों के अंतहीन सिलसिले से साबित होता है,

यही इस पार्टी में इस प्रकार की घातक कमी-खामियां और भटकाव लाया है। सीपीआई में आज विभिन्न गुटों व धड़ों का अस्तित्व है। पार्टी बॉडियां 'उचित स्थान पर उचित व्यक्ति' के सिद्धांत के आधार पर नहीं चुनी जाती हैं, बल्कि गुटों के बीच सुलह-समझौतों के आधार पर गठित की जाती हैं। कौन नहीं जानता कि सीपीआई आज डांगे[1] के दक्षिणपंथी गुट, रणदिवे दिवंगत[2] के वामपंथी गुट और दिवंगत अजय घोष[3] के मध्यमार्गी गुट के बीच विभाजित है। वर्तमान में नम्बूदरीपाद[4] के नेतृत्वाधीन है। इसलिए, पार्टी बॉडियों का गठन इन गुटों के बीच सुलह-समझौते द्वारा होता है। अब तो यह सर्वविदित तथ्य है। इसलिए, एक तरफ जहां अंधी वफादारी पर आधारित अफसरशाही व यांत्रिक अनुशासन है और कार्यकर्ताओं में दलीय कट्टरता है, वहीं दूसरी तरफ गुटों का अस्तित्व भी है। इसके बावजूद, फिर भी यह कम्युनिस्ट पार्टी है! पार्टी संगठन के लेनिनीय सिद्धांत के बारे में विस्तार से व्याख्या करते हुए स्तालिन ने कहा था, "इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि पार्टी के अंदर गुटों का होना उसकी एकता अथवा उसके फौलादी अनुशासन की भावना से मेल नहीं खाता। यह कहने की कोई खास जरूरत नहीं है कि पार्टी के भीतर गुटबन्दी होने से पार्टी में एक साथ कई केन्द्र हो जाते हैं, पार्टी के एक सामान्य केन्द्र का लोप हो जाता है और फलतः अनुशासन छिन्न-भिन्न होकर ढीला पड़ जाता है जिससे कि सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व कमजोर और अस्त-व्यस्त होने लगता है। सर्वहारा अधिनायकत्व के विरुद्ध जिहाद करने वाली दूसरे इन्टरनेशनल की पार्टियां गुटबन्दी की आजादी देने की उदारता दिखला सकती हैं, क्योंकि उन्हें फौलादी अनुशासन जैसी चीज की कोई जरूरत नहीं है और वे शासन सत्ता पर सर्वहारा वर्ग को काबिज

---

1. दिवंगत एस. ए. डांगे– एक समय सीपीआई (अविभाजित) के महासचिव और बाद में दूसरी पार्टी एआईसीपी बनायी थी।
2. दिवंगत बी. टी. रणदिवे– अविभाजित सीपीआई के महासचिव (40 के दशक के अंत में), बाद में सिद्धांतकार व पोलिट ब्यूरो सदस्य
3. दिवंगत अजय घोष–पचास के दशक में सीपीआई के महासचिव
4. दिवंगत ई. एम. एस. नम्बूदरीपाद–सीपीआई (एम) के पूर्व महासचिव तथा बाद में पोलित ब्यूरो सदस्य

होने देने की इच्छा ही नहीं रखती हैं। किन्तु कम्युनिस्ट इन्टरनेशनल की पार्टियां जो सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व कायम करने और उसे मजबूत करने के कर्तव्य के आधार पर काम करती हैं, उनमें गुटबन्दी की स्वाधीनता जैसी 'उदारता' दिखाने की इजाजत नहीं दी जा सकती है। पार्टी संकल्प की एकता की प्रतीक है। अतएव उसके अंदर न तो गुटबाजी के लिए कोई गुंजाइश है और न ही उसमें नेतृत्व के विभिन्न केन्द्र हो सकते हैं।"(लेनिनवाद की समस्याएं)

सीपीआई उदार बनकर और गुटों की आजादी को स्वीकृत करके दूसरे इन्टरनेशनल की पार्टियों की तरह अपने पेटी बुर्जुआ सोशल डेमोक्रेटिक चरित्र को साबित कर रही है। स्तालिन ने आगे कहा था, "किन्तु इसका तात्पर्य क्या है? वह यह है कि दूसरे इन्टरनेशनल से संबंधित पार्टियां सर्वहारा वर्ग के क्रांतिकारी आंदोलन को चलाने के सर्वथा अयोग्य थीं। वे मजदूर वर्ग की लड़ाकू पार्टियां नहीं थीं जो राजसत्ता पर कब्जा करने के संघर्ष में सर्वहारा वर्ग का नेतृत्व करतीं। बल्कि वे तो संसदीय चुनाव और संसदीय संघर्ष लड़ने के अनुरूप ढाली गयी केवल चुनावी मशीने थीं। यह कहने की कोई खास जरूरत नहीं कि इन परिस्थितियों में और ऐसी पार्टी की अगुआई में सर्वहारा वर्ग को क्रांति के लिए तैयार करने का प्रश्न भी नहीं उठ सकता था।'' (वही)

लेकिन हमारे देश में किसानों और अन्य शोषित-पीड़ित लोगों के साथ गठजोड़ बनाकर सर्वहारा वर्ग द्वारा सत्ता हथियाये बगैर, क्रांति किये बगैर, पूंजीपति वर्ग को सत्ता से उखाड़ फेंके बगैर वास्तविक जन-मुक्ति हासिल करने का कोई और दूसरा उपाय नहीं है। इसके लिए एक सही कम्युनिस्ट पार्टी की जरूरत है।

सही कम्युनिस्ट पार्टी का निर्माण करें

इसलिए, हमारे देश के मेहनतकश लोगों को आखिरकार यह तय करना होगा कि उन्हें कौन-सा रास्ता अपनाना है। वे खुद को संसदीय रास्ते के बहाव में बह जाने देंगे और बेबस होकर फासीवाद के उठते बवंडर में फंस जाने देंगे या भारत में समाजवादी क्रांति सफल करने की तैयारी में जुट जायेंगे। चूंकि बीच का कोई रास्ता नहीं है, इसलिए, या तो पहला, नहीं तो फिर दूसरा रास्ता उन्हें चुनना ही होगा। सच्ची

देशभक्ति, जो कि प्रतिक्रियावादी पूंजीवादी राष्ट्रवाद से बिल्कुल अलग होती है, जनता और सच्ची देशभक्ति के आधार पर विकसित उसके संगठित संघर्ष तथा सर्वहारा अंतर्राष्ट्रीयतावाद की विचारधारा ही भारत में फासीवाद के भावी कहर मचाने वाले बवण्डर को, भारत में फासीवाद की तीव्र वृद्धि-विकास को रोक सकती है। पार्टी संगठन के लेनिनीय सिद्धांतों पर संगठित और क्रांतिकारी विचारधारा से लैस मजदूर वर्ग की एक क्रांतिकारी पार्टी ही ऐसे संघर्ष को उसके सही अंजाम तक पहुंचा सकती है, पूंजीपति वर्ग को सत्ता से उखाड़ फेंकने और सर्वहारा वर्ग द्वारा सत्ता हथिया लेने का संघर्ष चलाने में नेतृत्व दे सकती है। संसदीय संघर्षों और संसदीय चुनावों के संचालन के लिए सीपीआई चाहे कितनी भी उपयुक्त सांचे में ढली हुई और दक्ष क्यों न हो, लेकिन वह एक क्रांतिकारी पार्टी नहीं है। वह सर्वहारा वर्ग के क्रांतिकारी संघर्षों को संचालित करने और उन्हें सत्ता तक पहुंचाने में असमर्थ दूसरे इन्टरनेशनल की पार्टियों जैसी ही एक पेटी बुर्जुआ संसदीय पार्टी है। मौजूदा दौर, जिसमें हम जी रहे हैं, ''खुल्लमखुल्ला वर्ग-संघर्षों का दौर है, एक ऐसा दौर है जब साम्राज्यवाद को उखाड़ फेंकने और सर्वहारा वर्ग द्वारा सत्ता प्राप्ति के लिए प्रत्यक्ष तौर पर ताकत बटोरी जा रही है। इस दौर में सर्वहारा वर्ग की पार्टी के सारे कार्य को सही क्रांतिकारी लाइन के आधार पर पुनर्गठित करने, सत्ता के लिए क्रांतिकारी संघर्षों की भावना से मजदूरों को शिक्षित करने, रिजर्व वाहिनी तैयार करने और सक्रिय करने, पड़ोसी देशों के सर्वहारा वर्ग के साथ गठजोड़ कायम करने, उपनिवेशों और निर्भरशील देशों में चल रहे मुक्ति संघर्षों के साथ मजबूत रिश्ता कायम करने आदि नये कार्यभार उसके कंधों पर आ गये हैं। यह सोचना कि जो पार्टियां संसदवाद के शांतिपूर्ण परिवेश में पली-बढ़ी थीं, उन पुरानी सोशल डेमोक्रेटिक पार्टियों के द्वारा ये नये कार्यभार सम्पन्न किये जाने हैं, खुद को निराशा-हताशा और अवश्यम्भावी हार के अंधेरे में डुबो देना होगा। इसलिए, एक नयी जुझारू क्रांतिकारी पार्टी की जरूरत है जो सत्ता हथियाने के संघर्ष में सर्वहारा वर्ग को नेतृत्व देने का पर्याप्त दम-खम रखने वाली हो। ऐसी पार्टी के बगैर साम्राज्यवाद को उखाड़ फेंकने और सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व कायम करने की बात सोचना भी

बेकार है।" (वही)। स्तालिन ने जब यह लिखा था, उस समय की तुलना में परिस्थितियां इस समय दस गुना ज्यादा पेचीदा हो गयी हैं। सर्वहारा वर्ग द्वारा सत्ता हथियाने के लिए और भी ज्यादा जुझारू संगठन की जरूरत भी उसी अनुपात में बढ़ गयी है। उसी रूप में हमारे देश की जनता को एक अलग तरह की पार्टी, सर्वहारा वर्ग की जुझारू पार्टी चाहिए। हालांकि आकार में छोटी है, फिर भी सोशलिस्ट यूनिटी सेन्टर ऑफ इंडिया (कम्युनिस्ट) ही वह पार्टी है। यह नये ढंग की पार्टी की सभी चारित्रिक विशेषताओं से परिपूर्ण है। भले ही यह छोटी है। इसे एक कारगर पार्टी के रूप में विकसित करने में मदद करें। यही आज वक्त की पुकार है।

यह लेख पहली बार जून 1962 में एसयूसीआई (सी) के तत्कालीन अंग्रेजी मुखपत्र *'सोशलिस्ट यूनिटी'* में प्रकाशित हुआ था।